CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृतविद्या

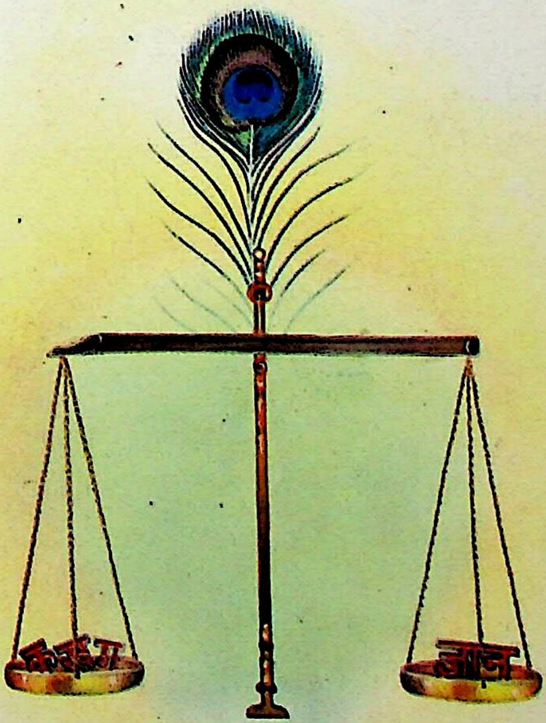

विचार-तुला पर तौलकर ही वाग्व्यवहार करना चाहिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख पृष्ठ के बारे में

भारतीय परम्परा में 'पहिले तौल, फिर बोल' की कहावत सुप्रसिद्ध है। भाषा का एवं विषय का भली भाँति विचार किये बिना एक अक्षर भी बोलना जब मर्यादा-विरुद्ध है, तब ऐसे लिखना तो और भी अधिक घातक हो जायेगा; क्योंकि बोलने की अपेक्षा लिखने में बहुत अधिक दायित्व होता है और तदनुरूप सावधानी भी अपेक्षित हो जाती है। जैन-परम्परा में भी साधु जैसे उच्चपदस्थ व्यक्ति से लेकर सामान्यश्रावक तक सोच-विचारकर भाषाशास्त्र एवं विषय की मर्यादा के अनुकूल ही बोलने-लिखने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इसीलिए भाषाशास्त्र के नियमों के विरुद्ध लेखन व संभाषण पर क्षमाचायना/खेदज्ञापन की परम्परा वहाँ प्राप्त होती है।

साधु-प्रतिक्रमण में—

"से अक्खरहीणं वा, सरहीणं वा, विंजणहींणं वा, अत्थहीणं वा..."

(विश्व जैन मिशन द्वारा प्रकाशित 'सूरसेनी प्राकृत प्रतिक्रमण', पृष्ठ 270)

अर्थात् अक्षर से हीन, स्वरहीन, व्यज्जनहीन अथवा अर्थहीन (जो कुछ मुझसे कहा या लिखा गया हो, उस सब के प्रति मैं स्नेहपूर्वक क्षमा चाहता हूँ।)

श्रावक-प्रतिक्रमण में

"अक्खर-पयत्थहीणं, मत्ताहीणं च जं मए भणिदं।
तं खमउ णाणदेवय मज्झ वि दुक्खक्खयं दिंतु।।"

अर्थ—अक्षर, पद और मात्रा आदि से हीन मैंने जो कुछ भी कहा हो, हे ज्ञानदेवता (सरस्वती)! उसे क्षमा करो तथा मुझे दुःखक्षय (अनाकुलसुख) प्रदान करें।

आचार्यों का स्पष्ट निर्देश है कि आगम ग्रन्थ, मंत्रशास्त्र अथवा स्तुति-स्तोत्र आदि किसी को भी बोलते या अध्ययन करते समय अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यंजन, सन्धि, रेफ एवं अनुस्वार आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए। न तो न्यून बोलना चाहिए, न अधिक बोलना चाहिए और न ही अपनी रुचि या मनमर्जी से बदलकर बोलना या लिखना चाहिए। और यह सब तभी संभव है जब हम व्याकरण एवं छन्दशास्त्र आदि के नियमों का पालन करते हुए आगमपरम्परा के अनुकूल लिखें-बोलें। कहा भी है—

"अक्षर-मात्रा-पद-स्वरहीनं, व्यंजन-संधि-विवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।।"

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
4365 A
18-1-96

प्राकृत-विद्या

पागद-विज्जा

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी पत्रिका

वर्ष 7 अक्टूबर-दिसम्बर 1995 अंक 3

मानद प्रधान सम्पादक
डॉ० राजाराम जैन
*
सम्पादक
डॉ० सुदीप जैन

सम्पादक मण्डल
डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच
डॉ० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर
डॉ० उदयचन्द जैन, उदयपुर
पं० जयकुमार जैन, नई दिल्ली

प्रबंध सम्पादक : पं० महावीर शास्त्री

प्रकाशक
श्री सुरेश चन्द्र जैन
श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया
नई दिल्ली – 110067

दूरभाष–(011) 664510
फैक्स– (011) 6856286

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क – पचास रूपये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
1.	मंगलाचरण		3
2.	सम्पादकीय : सिद्धो वर्णसमाम्नाय:		4
3.	निष्प्रतीकार मरण : सल्लेखना	आचार्य विद्यानन्द मुनि	9
4.	शौरसेनी प्राकृत का त्रापक्रम	प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन	15
5.	दीक्षा और दीक्षा विधि	डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री	20
6.	शास्त्र-रचना के सिद्धान्त और समयसार	डॉ० सुदीप जैन	27
7.	गूढ़वादी और गूढ़वादी	मुनिश्री कनकोज्ज्वलनंदि	35
8.	तिथि-निर्णय के लिए सांवत्सरिक क्षपणक मत ही मान्य है	पं० जयकुमार उपाध्ये	38
9.	अर्धमागधी भाषा में 'आउसन्ते'	डॉ० के०आर० चन्द्रा	39
10.	सूरसेनी प्राकृत और ब्रजभाषा	वीरसागर जैन	43
11.	दान की महिमा (कहानी)	श्रीमती रंजना जैन	50
12.	शौरसेनी प्राकृत : एक परिचय	पं० महावीर शास्त्री	54
13.	महिलासेवा में अर्पित जीवन : कळंत्रे अक्का	वसंतदादा पाटील	58
14.	नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी परमात्मा का स्वरूप		61
15.	समयसार के पाठ (स्थायी स्तंभ)		62
16.	ऐतिहासिक मूल्य की अप्रकाशित दुर्लभ पांडुलिपि	प्रो० राजाराम जैन	66
17.	विदेशों में पांडुलिपियाँ	प्रो० राजाराम जैन	70
18.	मांडू का संगीतज्ञ 'मंडन'	डॉ० अभय प्रकाश जैन	71
19.	जैनधर्म नास्तिक नहीं	श्री एच० वारन	74
20.	पुस्तक समीक्षा		85
21.	समाचार-दर्शन		88
22.	पाठकों के पत्र		94

"नामाख्यातोपसर्गेषु, निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती *शौरसेनी* च, भाषा यत्र त्रयी स्मृता।।"

—आचार्य रविषेण, 'पद्मपुराण', 24/11

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri 43 65A

मंगलाचरण

(1)

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभीष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।।

(—भक्तामरस्तोत्र, 10)

अर्थ—हे त्रिभुवनभूषण ! हे प्राणीश्वर ! इस पृथ्वीतल पर सत्य गुणों से आपकी स्तुति करने वाले आपके समाने बन जाते हैं—इनमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि यदि कोई श्रीमन्त पुरुष अपने आश्रय/शरण में आये हुए लोगों को अपने ही समान (धनवान्) कर ले, तो इसमें क्या आश्चर्य; यदि वह अपने समान उनको न बनाये, तो फिर उन शरणागतों को उसकी शरण लेने से अन्य क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?

(2)

ये क्षत्रिया मोक्षमपेक्ष्य दीक्षामक्षार्थकांक्षा क्षपणां क्षमाढ्याम्।
दीक्षाक्षणे ते जगृहुर्जिनस्य मुमुक्षवोऽमी स्युरिह प्रतीक्ष्याः।।

(प्रतिष्ठातिलक, 11/1 पृ० 246)

अर्थ—जिन क्षत्रियों ने मोक्ष की अपेक्षा करके क्षमासमृद्ध क्षपणक (दिगम्बरी) दीक्षा के लिए आकांक्षा की, उन गृहत्यागोत्सुक जिन के दीक्षा के पुनीत क्षण के लिए ये सभी मुमुक्षुजन (मोक्षाभिलाषीजन) प्रतीक्षा-तत्पर रहते हैं।

टिप्पणी—उपर्युक्त दो पद्यों में मंगलकारी स्तुतिवचन तो हैं ही, जिनका अर्थ यथास्थान दिया गया है; किन्तु इन दोनों पद्यों में जो अधो-रखांकित (प्रथम पद्य में 'भ' वर्ण तथा द्वितीय पद्य में 'क्ष' वर्ण) वर्ण हैं, वे विशेषतः ध्यातव्य हैं। प्रथम पद्य में 'भ' वर्ण की ग्यारह बार तथा द्वितीय पद्य में 'क्ष' वर्ण की बारह बार आवृत्ति हुई है। ये दोनों 'सानुप्रास कारिकायें' हैं, जो कि विषयगत वैशिष्ट्य के साथ-साथ आलंकारिक महत्त्व की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धो वर्णसमाम्नाय:

किसी भी भाषा के परिशुद्ध ज्ञान एवं निर्दोष लेखन/पाठ-संशोधन आदि बौद्धिक व्यवसायों के लिए उसकी वर्णमातृका का ज्ञान होना अपरिहार्य होता है। प्राकृत भाषा भी इस राष्ट्र की और सम्पूर्ण मानव सभ्यता की अतिप्राचीन एवं विशिष्ट भाषा होने के कारण यह बात स्वत: इस भाषा पर भी लागू होती है। किन्तु प्राकृत भाषा में मूलवर्ण कितने माने गये हैं तथा उनका परिचय क्या है? –इसका विशद ज्ञान प्राकृतभाषा एवं साहित्य की चर्चा और समीक्षा करने वाले मनीषियों में से भी विरले लोगों को ही होगा। प्राकृत भाषा में कुल चौंसठ वर्णमातृकायें मानीं गयीं हैं। 'पाणिनीय शिक्षा' में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है– **"त्रिषष्टिश्चतु:षष्टिर्वा वर्णा: शाम्भुमते मता:।**

प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा।।" *(पाणिनी शिक्षा 3)*

अर्थात् शाम्भुमत में भी संस्कृत भाषा में तिरेसठ (63) तथा प्राकृत भाषा में चौंसठ (64) 'वर्ण' माने गये हैं। तथा इन वर्णों का ज्ञान स्वयं भगवान् स्वयम्भु (आदिनाथ-ऋषभदेव) ने बोलकर दिया था।

यहाँ 'प्रोक्ता' शब्द विशेष ध्यातव्य है। वाच:निर्गत अक्षर ही 'प्रोक्त' संज्ञा को प्राप्त कर सकता है। अत: भगवान् स्वयम्भु वृषभदेव ने इस चौंसठ वर्णों को वाणी-प्रयोग के द्वारा सिखाया था, जिसे शाम्भुमत में भी स्वीकृति प्राप्तु हुई थी। इन चौंसठ वर्णों के बारे में प्राकृत के जैनंग्रन्थों में विशद वर्णन प्राप्त होता है। आदिग्रन्थ 'षट्खण्डागम' की धवला टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं–

"तेत्तीस वेंजणाइं, सत्तावीसं हवंति सव्वसरा।
– चत्तारि अजोगवहा, एवं चउसट्ठि वण्णाओ।।"

(धवला, पु० 13, खंड 5, पृ० 248)

अर्थात् तेतीस व्यञ्जन, सत्ताईस स्वर एवं चार अयोगवाह – इस प्रकार सब मिलकर कुल चौंसठ मूल वर्ण होते हैं।

इन वर्णों का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं–

"वग्गक्खरा पंचवीस, अंतत्था चत्तारि, चत्तारि उम्हाक्खरा–एवं तेत्तीसा होंति वंजणाणि। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ – एवमेदे णव सरा हरस्स–दीह–पुदभेदेण पुध–पुध भिण्णा सत्तावीसा होंति। अजोगवाहा अं, अ:, क, प –इति चत्तारि चेव होंति। एवं सव्वक्खरा चउसट्ठी।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् पच्चीस वर्गाक्षर ('क' से 'म' तक), चार अंतःस्थ वर्ण (य, र, ल, व) चार ऊष्म (श, ष, स, ह) वर्ण–इस प्रकार तेतीस **व्यंजन** होते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ–इस प्रकार ये नौ स्वर हैं; इनमें से प्रत्येक के ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद होने पर पृथक्-पृथक् होकर सत्ताईस स्वर होते हैं। अं (अनुस्वार), अः (विसर्ग), क (उपध्मानीय) एवं प (जिह्वामूलीय) —ये चार **अयोगवाह** वर्ण हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षर चौंसठ होते हैं।

इतना वर्णन करने के बाद भी आचार्य वीरसेन स्वामी सन्तुष्ट नहीं हुए, तो उन्होंने इन चौंसठ वर्णमातृकाओं को लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया–

"**एत्थ चउसट्ठि-अक्खरठवणा एसा** (इन चौंसठ अक्षरों की स्थापना का क्रम इस प्रकार है)– **अ, आ, आ३। इ, ई, ई३। उ, ऊ, ऊ३। ऋ, ऋ, ऋ३। लृ, लृ, लृ३। ऍ, ए, ए३। ओॅ, ओ, ओ३। ऐॅ, ऐ, ऐ३। औॅ, औ, औ३। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व। श, ष, स, ह। क, प, अं, अः।**"

चूंकि परवर्ती संस्कृत में 'एच्'वर्णों (ए, ओ, ऐ, औ) को ह्रस्व नहीं माना गया है ('एचो द्वादशविकल्पाः, तेषां ह्रस्वाभावात्' – लघुसिद्धान्तकौमुदी), अतः यह शंका उनके सम्मुख भी उपस्थित हुई – "**एचां ह्रस्वा न सन्तीति चेत्; न, प्राकृते तत्र तत्सत्त्वाविरोधात्**" अर्थात् 'एच् वर्ण ह्रस्व नहीं होते हैं–ऐसा कहने पर कहते हैं कि यह कथन ठीक नहीं है, प्राकृत में उन 'एच्' वर्णों के ह्रस्वरूप होने से 'एच्' वर्णों के ह्रस्वत्व का अविरोध है।

छन्दोऽनुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र भी इस बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं–"**एतादौ पादान्ते प्राकृते ह्रस्वो वा**" *(छन्दोऽनुशासनम्, 1/10 पृ० 5)*

अर्थात् पाद के अन्त में विद्यमान एकार, ओकार, ऐकार एवं औकार प्राकृतभाषा में विकल्प से ह्रस्व होते हैं।

यह चौंसठ वर्ण-सम्बन्धी विवरण 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' गाथा 352 एवं उसकी 'जीवतत्त्व प्रदीपिका' टीका में भी प्राप्त होता है। वहीं पर संस्कृत-प्राकृत के वर्णभेद-वि[illegible]क शंकाओं का समाधान भी निम्नानुसार मिलता है–

"**लृ वर्णः संस्कृते दीर्घो नास्तिः, तथापि अनुकरणे देशान्तर भाषायां चास्ति। ए, ऐ, ओ, औ – इति चत्वारोऽपि संस्कृते ह्रस्वा न सन्ति; तथापि प्राकृते देशान्तर-भाषायां च सन्ति।**"

अर्थ– 'लृ' वर्ण संस्कृत में दीर्घरूप नहीं होता है, फिर भी (प्राकृत के) अनुकरण से देशान्तर भाषाओं में (यह दीर्घरूप) होता है। इसी प्रकार ए, ओ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐ, औ — ये चारों वर्ण भी संस्कृत में ह्रस्व नहीं होते हैं, फिर भी प्राकृत भाषा एवं देशान्तर भाषाओं (अपभ्रंश एवं दक्षिण भारतीय भाषाओं) में (ये ह्रस्वरूप) होते हैं।

ह्रस्व-दीर्घ एवं प्लुत स्वरों के बारे में ज्ञान-विज्ञान के महाकोश 'धवला' में लिखा है–"**एकमात्रो ह्रस्वः, द्विमात्रो दीर्घः, त्रिमात्रः प्लुत, मात्रार्द्ध व्यञ्जनम्।**
अत्रश्लोकः– "**एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।**
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं त्वर्द्धमात्रकम्।।"

(धवला, पु० 13, खंड 5, पृ० 248)

अर्थात् एकमात्रा वाला वर्ण 'ह्रस्व' होता है, दो मात्राओं वाला वर्ण 'दीर्घ' होता है एवं तीन मात्राओं वाला वर्ण 'प्लुत' कहलाता है। तथा व्यञ्जन अर्द्धमात्रिक होता है। यह एकमात्रिकत्व आदि का वर्गीकरण उच्चारणगत कालभेद का द्योतक है– "**यद्येवं ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतेष्वपि ध्वनिरेव कालभेदहेतुः।**" इनमें ह्रस्व के उच्चारण में 9 पल; दीर्घ के उच्चारण में 12 पल एवं प्लुत के उच्चारण में 16 पल प्रमाण समय लगता है।

चूंकि व्यञ्जन का स्वर के बिना स्वतन्त्र उच्चारण संभव नहीं है, अतः उसे 'अर्द्धमात्रिक' कहा गया है। व्यञ्जन मूलरूप में 'क्, ख्, ग्' इत्यादि प्रकार से हलन्त प्रयोगपूर्वक लिखे जाते हैं तथा उच्चारण के लिए इनमें कोई न कोई स्वरप्रयोग आवश्यक होता है। अतः प्रत्येक व्यञ्जन के साथ स्वर प्रयोगपूर्वक बाराखड़ी का निर्माण होता है; जैसैकि—क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं और कः।

स्वरों एवं व्यञ्जनों के अतिरिक्त चार 'अयोगवाह' भी मूलवर्णमातृका के अंग माने गये हैं। जो अन्य अक्षरों को संयोग को वहन करते हैं, वे 'अयोगवाह' कहलाते हैं।

इस प्रकार इन चौंसठ मूलवर्णों का स्वरूप-वर्णन जैनागम ग्रन्थों में उपलब्ध है–

"**वाक्संस्कारकारणानि शिरः कण्ठादीन्यष्टौ स्थानानि।**"

(धवला, 2/2/2 पृ० 117)

अर्थात् मस्तक (मूर्धा), कण्ठ, हृदय, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, तालु और ओष्ठ —**ये आठ वचनसंस्कार के स्थान हैं।** इन स्थानों से उच्चरित होने वाले वर्णों को क्रमशः मूर्धन्य, कण्ठस्थानीय, हृदयस्थानीय, जिह्वामूलीय, दन्त्य, नासिकास्थानीय, तालव्य और ओष्ठस्थानीय वर्ण कहते हैं। इन स्थानों के सही ज्ञान के बिना इन वर्णों का उच्चारण निर्दोष नहीं हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन तालु आदि स्थानों से उच्चरित होने वाले शब्द 'द्रव्याक्षर' हैं तथा आकार आदि के वर्णज्ञानस्वरूप 'भावाक्षर' होते हैं। द्रव्याक्षर पूर्वक होने वाले भावाक्षर का आश्रय पाकर मतिज्ञान व श्रुतज्ञान होता है। अक्षर के बिना शब्दों का निर्माण नहीं होता है और शब्द भी बाह्य निमित्त या प्रकाशक माना गया है। इसीलिए यह भी कहा गया है कि "जितने अक्षर हैं, उतने ही श्रुतज्ञान हैं; क्योंकि एक-एक अक्षर से एक-एक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं धवलाकार ने वहीं (धवला, पु० 13, भाग 5, पृ० 248) कहा है कि "इन चौंसठ अक्षरों के जितने संयोगी रूप होते हैं, उतने ही प्रमाण में श्रुतज्ञान के विकल्प (भेद) जानने चाहिए।'' ध्यातव्य है कि संयोगाक्षरों की कुल संख्या का प्रमाण 18446744073709551616 से एक कम माना गया है।

उपर्युक्त चौंसठ वर्णाक्षरों के बारे में **भगवती आराधना** में भी वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ मूलग्रंथ में आगत 64 वर्णों के उल्लेख के साथ उसके भाषा टीकाकार पं० सदासुखदास कासलीवाल ने लिखा है कि "**व्यज्यते** कहिये अर्थ जिनकरि प्रकट करिये, ते **व्यंजन** कहिये। **स्वरन्ते** कहिये अर्थकूं कहैं, ते **स्वर** कहिये। **योग** कहिये अक्षर के संयोगकूं **वहन्ति** कहिये प्राप्त होय, तो **योगवाह** कहिये। मूल कहिये और अक्षर के संयोगरहित अर संयोगी अक्षर के उपजने को कारण से **चौंसठमूलवर्ण हैं।** इस अर्थकरि ये द्वितीयादि अक्षर के संयोगरहित चौंसठ अक्षर हैं। इन विषैं दोय आदि अक्षर मिले 'संयोगी' हो है। जैसे 'क्कार' व्यंजन 'अकार' स्वर मिलिकरि 'क' ऐसा अक्षर हो है, 'आकार' के मिलनेतैं 'का' ऐसा अक्षर हो है। इत्यादि संयोगी अक्षर उपजने के कारण ये चौंसठि श्रुतज्ञान के मूल अक्षर जानने।

बहुरि एक **दीर्घ लृकार संस्कृतभाषाविषैं नाहीं है,** तथापि अनुकरण विषैं देशांतर की भाषाविषैं होहै, तातैं इहां कह्या है।'' *(भगवती आराधना, पृष्ठ 224)*

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एकमात्र दीर्घ लृकार वर्ण संस्कृत में नहीं माना गया है, अत: संस्कृत में तिरसेठ (63) वर्ण माने गये हैं तथा प्राकृत में उसकी भी (दीर्घ लृकार की) सत्ता स्वीकृत होने से प्राकृत में चौंसठ मूलवर्ण माने गये हैं। ये चौंसठ मातृकापद **दृष्टिवाद** के अंग माने गये हैं।

चौंसठ की संख्या का अपना विशिष्ट महत्त्व है। ऋद्धियाँ भी चौंसठ मानी गयी हैं, कलायें भी चौंसठ ही होती हैं, ज्योतिषशास्त्र के अंग भी चौंसठ कहे गये हैं ('चतु:षष्ट्यंगे ज्योति: शास्त्रे' मुद्राराक्षस –1/10), ध्यान के आसन भी चौंसठ बताये गये हैं (अमृताशीति, पद्य 26 की टीका)। अर्हन्त परमात्मा के चँवरों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संख्या भी चौंसठ मानी गयी है, मंगल वाद्ययन्त्रों के भी चौंसठ प्रकार माने गये हैं, चौंसठ नाड़ी की एक 'घड़ी' मानी गयी है और चौंसठ घड़ियों के एक दिन-रात होते हैं। (पउमचरिउ, 3/50/7)। 'प्रासाद-लक्षण' के अनुसार चौंसठ पद का 'ज्येष्ठ मण्डप' होता है। प्राचीन चाँदी के एक रूपये में भी चौंसठ पैसे होते थे।

इस प्रकार 'वर्णों की चौंसठ संख्या' संख्या की दृष्टि से भी विशिष्ट गरिमापूर्ण हैं। यह जैनाभिमत वर्णाम्नाय है, जो शाश्वत प्रसिद्ध होने से **'सिद्धो वर्णसमाम्नायः'** कहलायी। इसकी वन्दना करते हुए कातन्त्रकर्त्ता लिखते हैं—

'यत्रार्हपदसंदर्भाद् वर्णाम्नायः प्रतिष्ठितः।
तस्मै कौमारशब्दानुशासनाय नमो नमः।।' *(—कातन्त्र, 5 प्रशस्ति।)*

**

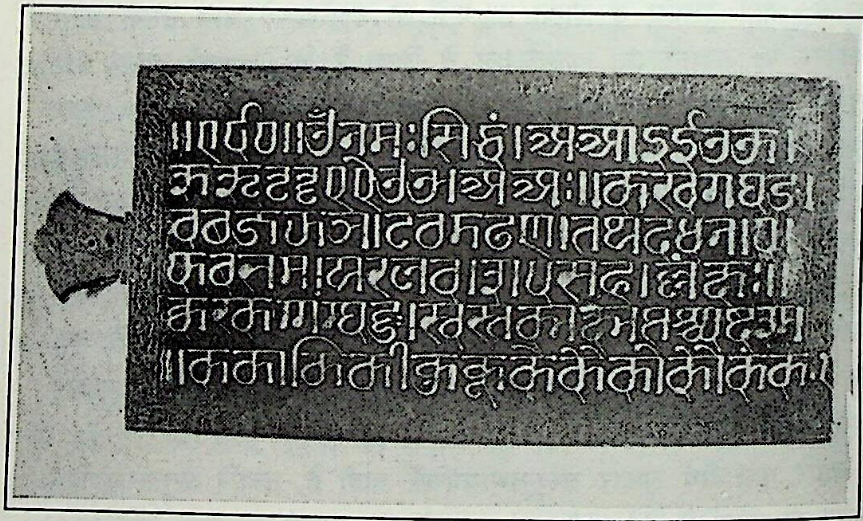

लगभग 150 वर्ष प्राचीन यह प्रस्तरफलक पर उत्कीर्ण वर्णाक्षरों वाली स्लेट राजस्थान से प्राप्त हुई।
—छायाप्रति सौजन्य : **श्री ओमप्रकाश कागजी, दिल्ली**

सज्जन किये हुए उपकार को नहीं भूलते हैं—

'प्रथमवयसि पीतं तोयमल्पं स्मरंतः। शिरसि निहति भारः नारीकेला नराणाम्।।
उदकममृततुल्यं दद्युराजीवितातं। न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।"

अर्थ—बाल्यावस्था में पिये हुए थोड़े से पानी को भी नारियल भार समझकर मस्तक पर धारण करता है और जीवनभर मनुष्यों को अमृत-समान जल देता है। ठीक ही है, सज्जन पुरुष किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निष्प्रतीकार मरण : सल्लेखना

—आचार्य विद्यानन्द मुनि

'मरण' का नाममात्र सामान्य संसारी प्राणी को भय उत्पन्न करा देता है; इसीलिए विद्वानों को भी संसारी प्राणी की मनोदशा को परिलक्षित कर लिखना पड़ा कि **"णत्थि भयं मरणसमं"**[1] अर्थात् मृत्यु के समान अन्य कोई भय नहीं है। किन्तु यह मृत्यु मोही प्राणियों को ही भय उत्पन्न करा पाती है[2], विवेकी प्राणी तो शरीर को विनाशधर्मा जानकर मृत्यु की चिन्ता या भय करते ही नहीं हैं— **"क्षणध्वंसिनीकाये का चिन्ता मरणे रणे।"**[3]

वे जानते हैं कि 'जैसे सूर्य का उदय ही अस्त होने के लिए होता है, उसी प्रकार वस्तुत: समस्त प्राणियों का शरीर भी नष्ट होने के लिए ही उत्पन्न होता है।'[4] ज्ञानी भली भाँति जानते हैं कि 'जब तक आयु कर्म शेष है, तब तक मरण कदापि हो नहीं सकता है; और आयु कर्म का क्षय हो जाने पर एक क्षणमात्र भी जीवित नहीं रहा जा सकता है।' परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द भी लिखते हैं— **"आउक्खयेण मरणं"**[5] —अर्थात् आयुकर्म का क्षय होने पर ही मरण होता है। अत: वे (ज्ञानीजन) धर्मध्यान एवं आत्महित में सन्नद्ध रहते हुए मृत्यु का स्वागत करने को तत्पर रहते हैं। नीति वाक्य भी है कि—**"यमस्य करुणा नास्ति, कर्तव्यो धर्मसंचय:।"** अर्थात् यम (मृत्यु) किसी पर करुणा नहीं करता है, अत: व्यक्ति को धर्म का संग्रह करना चाहिए।

नारायण श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि—**"संभावितस्य चाकीर्तिः मरणादति-रिच्यते।"**[6] अर्थात् "(हे अर्जुन !) यह जीवन किस काम का, जिसमें आध्यात्मिक सद्गुणों का विनाश होता है। उस जीवन से तो मरण अच्छा है।" **महाकवि कालिदास** ने आयु के अन्त-समय में योगपूर्वक शरीर त्यागने की मुनिधर्म की परिपाटी बतायी है—**"वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्।"**[7] अर्थात् वृद्धावस्था में आयु के अन्त-समय में मुनिधर्म वाले लोग योगधारण करके स्वेच्छा से शरीर को छोड़ देते हैं, उसे यमराज को सौंप कर मृत्यु-महोत्सव मनाते हुए आत्मा में लवलीन होते हैं।

यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक संसारी प्राणी का मरण होता है। किन्तु भारतीय चिन्तन पद्धति में मरण को भी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भों में देखा गया तथा उसके लिए बहुत सोच-विचारकर शब्दों का चयन किया गया है। जैसे कि 'मरण' को 'देहान्त' या 'देहावसान' कहा गया है। चूंकि भारतीय चिन्तनधारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
में आत्मा को अजर-अमर तत्त्व माना गया है, तथा शरीर को विनाशी स्वीकार किया गया है; इसीलिए ये दोनों शब्द बताते हैं कि 'अन्त' या 'अवसान' तो देह का हुआ है, आत्मा का नहीं; अत: भय, शोक या आशंका की कदापि कोई आवश्यकता या अवकाश ही मरण के प्रसंग में नहीं है। इसी प्रकार एक अन्य शब्द आता है 'अरथी।' यह भी बड़ा आध्यात्मिक सुविचारित प्रयोग है। भारतीय चिन्तन-पद्धति में वैदिक युग से ही एक परिकल्पना प्रचलित है, जिसमें 'शरीर' को 'रथ' की एवं 'आत्मा' को 'रथी' की उपमा दी गयी है। चूंकि प्रधानता 'रथी' अर्थात् आत्मा की है, इसलिए रथीविहीन (आत्मा-विहीन) रथ (शरीर) को 'रथ' न कहकर 'अरथी' (अर्थात् 'बिना रथी का') कहा गया। जैसे बिना दूल्हे के बारात एवं बिना सामान के पैकेट महत्त्वहीन होता है, इसी प्रकार बिना 'रथी' के 'रथ' भी महत्त्वहीन है; इस प्रकार 'अरथी' शब्द आत्माविहीन शरीर की महत्त्वहीनता एवं आत्मा की ही वास्तविक महत्ता को द्योतित करता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय विचार-सरणि में आत्मा को ही प्रधान एवं अक्षर अविनाशी तत्त्व माना गया तथा शरीर को तुच्छ, अशुचि एवं मरणधर्मा स्वीकार किया गया है। अत: मरण का भय या शोक न किया जाये —यह प्रत्येक भारतीय दर्शन ने स्वीकार किया है। किन्तु मरण भी एक मांगलिक महोत्सव है तथा इसको मनाने की भी कोई सुव्यवस्थित एवं सुविचारित प्रक्रिया है—यह बात एकमात्र जैन दार्शनिकों के सन्देशों में निहित है। इस प्रक्रिया को जैनदर्शन में **'सल्लेखना'** संज्ञा दी गयी है। आद्य सूत्रकार आचार्य उमास्वामी लिखते हैं— **''मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।''**[8] अर्थात् जब मरण अवश्यंभावी लगे, तब 'सल्लेखना' प्रक्रिया के द्वारा शरीर छोड़ना चाहिए।

जीवन जीने की कला जहाँ जैनदर्शन ने सिखायी, उसका सन्तुलन सिखाया; वहीं मरने की, मरण को सुखद, शांतिपरक, गरिमाप्रद बनाने की कला जैनदर्शन की नितान्त मौलिक विशेषता है। प्राय: 'सल्लेखना' की 'आत्महत्या' जैसे शब्दों के द्वारा तुलना करके इसे गर्हित करने की चेष्टा कतिपय अतिउत्साही एवं वस्तुस्थिति से अनभिज्ञजन करते हैं; किन्तु यह उनका अज्ञानविलास मात्र है। क्योंकि जैनदर्शन स्पष्ट कहता है कि जब तक आशा हो एवं उपाय संभव हो, तब तक जीने की पूर्ण चेष्टा एवं सात्त्विक उपाय करो; किन्तु जब समस्त सात्त्विक साधन व्यर्थ हो जायें, तब सल्लेखनापूर्वक शरीर-त्याग कर दो। आखिर जब शरीर छूटने का अंतिम समय आ ही गया है; तो अनावश्यक रूदन, हायतौबा, भय, पीड़ा एवं अनुचित उपचारों के द्वारा क्या वह टल सकता है? यदि नहीं, तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
ये सब व्यर्थ के क्रियाकलाप किये ही क्यों जायें? धैर्य, शांति एवं संयमपूर्वक यह कार्य-निष्पादन क्यों न किया जाये? इसीलिए इसे गरिमापूर्ण सात्विकविधि से सम्पन्न कराया जाता है।

'सल्लेखना' के लिए चार आधार जैनदर्शन में बताये गये हैं–

"उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायाञ्च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।"[9]

अर्थ–जिसका प्रतिकार अर्थात् निराकरण/निवारण संभव न हो, ऐसा उपसर्ग आवे, दुर्भिक्ष पड़े, बुढ़ापा आ जाये अथवा रोग हो जाये; तब **ऐसी निष्प्रतीकार अवस्था** में ही धर्म की रक्षा (अपने परिणामों को संक्लेशयुक्त होने से बचाना) के लिए गणधरदेव ने 'सल्लेखना' का विधान किया है।

यह 'सल्लेखना' साहस, शौर्य एवं संयम का अद्वितीय संगम है, अति मांगलिक कार्य है; इसमें और 'आत्महत्या' में रात-दिन जैसा अन्तर है। आत्महत्या करने वाले जीवों की भारतीय संस्कृति में निन्दा की गयी है। 'ईशावास्योपनिषद्' में लिखा है कि– **"असूर्या नाम ते लोकाः, अन्धेन तमसावृताः।**
तास् ते प्रत्याभिगच्छन्ति, ये केचनात्महतो जनाः।।"[10]

अर्थ–जो लोग आत्मघात करते हैं, वे मरने के बाद अन्धकार से आवृत्त असूर्य प्रदेश (जम्बूद्वीप के बाहर) जन्म ग्रहण करते हैं।

जबकि सल्लेखनापूर्वक मरण की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है।[11] सल्लेखना के समय ज्ञानीजन सम्बोधित करते हैं कि–

"कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपिंजरे।
भज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः।।"[12]

अर्थ–हे भव्य आत्मन् ! यह शरीररूपी पिंजरा कृमियों के सैकड़ों जालों से भरा हुआ है तथा नित्यप्रति जर्जर हो रहा है। ऐसा जर्जर पिंजरा यदि नष्ट होता है, तो तुम्हें भय नहीं करना चाहिए; क्योंकि तुम तो ज्ञानशरीरी होने से अविनाशी हो।

इस प्रकार से साहस एवं शांति का आविर्भाव कराके सल्लेखना धारण करायी जाती है। संसारी प्राणी मृत्यु से भयभीत होकर अपार मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा भोगते हैं, जबकि सल्लेखनाधारी साधक मृत्यु के भय को जीतकर 'मृत्युञ्जय' बन जाता है। वह लौकिक प्रतिक्रिया नहीं करता है, अपितु अपनी चारित्ररूपी सम्पत्ति की रक्षा करता हुआ आत्मकेन्द्रित हो जाता है। आचार्य वादीभ सिंह सूरि लिखते हैं– **"प्राणप्रयाणवेलायां न हि लोके प्रतिक्रिया।"**[14]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
इस सल्लेखनापूर्वक होने वाली मृत्यु के लिए 'समाधि' का विधान आता है— **"समाधिश्च भवेन्मृतौ।"**[15] समाधिपूर्वक आत्मा की कल्याण यात्रा होती है, अत: उसे 'शिव यात्रा' कहा गया और इसके बिना मरण होने पर 'शवयात्रा' आयोजित करनी पड़ती है। अत: समाधिकरण की भरपूर महिमा आगमग्रन्थों में गायी गयी है। समाधि की क्रिया साधुओं के होती है, अत: 'साधुसमाधि' संज्ञा भी प्रचलित हुई।

साधुसमाधि—

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रवों में साधुसमाधि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाधि मानो साध्वाचार की पर्यन्तवेदिका है, सफलता तथा सिद्धि का अन्तिम चरण है। जीवनभर साधी हुई त्याग, तपश्चर्या और परिषहों की कसौटी है। यह सर्वोच्च शिखर है, जहाँ आरोहरण करने के लिए साधुजीवन की समस्त चर्याएं सीढ़ियों के समान हैं। **'मरणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता'** यह सूचित करने के लिए है कि त्यागी को मरणान्तिक सल्लेखना भी प्रीतिपूर्वक अनाकुलता से धारण करनी चाहिए। वस्तुत: जिस शुभदिन के लिए मोक्षधर्म का सदाश्रय लिया था, हेयोपादेय विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किया था, द्वादश भावनाएँ भायीं थीं, संसार से सम्बन्ध का अन्तिम सूत्र तोड़ फेंका था; वह पर्व-समय प्राप्त हो गया —यह जानकर त्यागी का मन प्रसन्न, धन्य और कृतकृत्य हो उठना चाहिए। दीक्षा ग्रहण के दिन जिस महाव्रत को अंगीकार किया था, आज उसको यथा–विधिपूर्ण करने का अवसर मिला। **'सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मरणान्तिकीम्'** यह अनुचिन्तन मुनि को समस्त आधि-व्याधि-उपाधियों से विमुक्ति देनेवाला है।

तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि व्याख्या में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है–'यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्तथाऽनेकव्रतशील-समृद्धस्य मुनेस्तपस: कुतश्चित् प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्सन्धारणं समाधि:'–'अर्थात् जिस प्रकार भण्डार में आग लगने पर उसे शान्त किया जाता है और भण्डार स्थित वस्तुओं की रक्षा की जाती है; उसी प्रकार अनेक व्रतों और शील से समृद्ध मुनि को कहीं से विघ्न-बाधा उपस्थित हो जाए तो उसकी शान्ति करना **'समाधि'** है।' भण्डार की आग से जैसे उसमें स्थित वस्तुएं जलने लगती हैं; वैसे यदि दुर्भिक्ष से, अतिचार से, परकृत उपसर्गों से त्याग-तप-शील-संयमाचार समृद्ध मुनि को व्रतों के विप्लव का भय उपस्थित हो जाए, तो अविचल भाव से उन्हें समाधिमरण लेने को तत्पर हो जाना चाहिए। क्योंकि मुनि का जीवन महाव्रतों को समर्पित होता है। जैन श्रमण मूलगुणों के पालयिता, निर्ग्रन्थ तथा रागविवर्जित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते हैं; अत: काय-रक्षणार्थ व्रतों का, शील, आचार का तब तक अतिक्रमण नहीं किया जा सकता; जब तक नीरोग तथा स्वस्थ शरीर व्रतपालन में समर्थ है। तब तक आहार-विहार के लिए कोई बाधा नहीं, परन्तु व्रतों में अन्तराय आने लगे, तो उस काय से ही अन्तराय कर लेना मुनिधर्म है। ऐसे समय पर भी जो समाधि न लेना चाहे; उसका त्यागीवेष मायाचार है।

'समाधि' ध्यानावस्था का पर्याय है। ध्यान, ध्याता और ध्येय तथा ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का एकत्रावस्थान समाधि है। समाधि में स्थित आत्मा ही दृश्य है तथा वही द्रष्टा भी है। समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि—**'बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे। तुष्यत्यन्त: प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुक:।। 60।।** —जो मूढ हैं, वे अन्तर्ज्योति को न जानने से बाहरी दृश्यों, भोगों तथा आसक्ति-केन्द्रों में रतिमान् होकर प्रसन्न-तुष्ट होते हैं, परन्तु जिसने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, वह आत्मनिविष्ट होकर प्रसन्नता अनुभव करता है और बाहरी कौतुकों में नहीं फँसता। वस्तुत: समाधि ध्यानयोग है। शास्त्रों में वर्णन है कि समाधि में स्थित योगियों को ज्वालामुखी पर्वतों का विस्फोट, पृथ्वी को विकम्पित कर देनेवाला भूकम्प और सर्वदहन दावानल तथा प्रलय सरिताओं के प्रवाह भी विचलित नहीं कर सकते।

समाधि की सिद्धि आत्मतत्त्व में निमग्न रहने से होती है। जो परद्रव्यों से विरति नहीं रख सकता, उसे समाधि-अवस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। समाधि का वर्णन करते हुए बताया गया है **'यथा दीपो विवातस्थो नेंगतेसोपमा स्मृता'** —जैसे वायुरहित प्रदेश में दीपशिखा अकम्प-स्थिर होती है; वैसे समाधि दशा में आत्मा मानसविक्षोभों से रहित निर्विकल्प, शान्त रहता है। **'सम्यग् आधीयते मनोवाक्कायत्रितयं यत्र स समाधि'**—मनोवाक्काय के त्रियोग की निष्पन्नावस्था समाधि कही जाती है। समाधि योग से अवधिज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। उपनिषदों में बताया गया है कि ध्यानयोग से देवों ने आत्मशक्ति का साक्षात्कार किया— **'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाय्'**—

प्राचीन समय में भारतीय ऋषि-मुनि समाधि से आत्मदर्शन करते थे। आज उस साधना की ओर हम सावधान नहीं हैं। इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट क्षय के लिए समाधि देवमार्ग है। मन, बुद्धि की कुशाग्रता, स्थिरता, आयुष्य, कान्ति, ओज, ब्रह्मचर्यपालन समाधि के सुफल हैं। **'ध्यानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्'** यह प्रसिद्ध वाक्य है। ध्यान से ही कर्मक्षय किये जा सकते हैं। ध्यान अथवा समाधि में मनुष्य अपने आचरित शुभाशुभ कर्मों का पर्यवेक्षण करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा उनमें जो दोष दिखायी देते हैं, उनको दग्ध करने के लिए व्रत, उपवास, स्वाध्याय प्रायश्चित आदि ग्रहण करता है। समाधि में ही सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होकर एकत्र होती हैं, अन्य समय में वे पृथक्-पृथक विचरती रहती हैं; अत: आत्मावच्छिन्न इस शरीरगृह में एक स्थान में रहनेवाली इन्द्रियों का कभी-कभी एकत्र सम्मेलन बुलाना तथा उनको नियंत्रित कार्य दिशाबोध देना समाधि से ही शक्य है। ऐसा करते रहने से इन्द्रियों में अविरोध उत्पन्न होगा तथा वे शनै:-शनै: आत्मानुशासित होकर उत्पथ का त्याग करने में प्रवृत्त होंगी।

इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सम्पूर्ण क्रियायें आनन्ददायक हों, मंगलमय हों, ऐसा सुव्यवस्थित चिन्तन जैनदर्शन में प्राप्त होता है। मरण के भय, आशंका एवं दुर्गतिगमन से बचाने वाला सुप्रयोग है 'सल्लेखना' या 'समाधिमरण।' यह प्रत्येक सद्गृहस्थ एवं साधु के लिए प्राणप्रयाणबेला में अवश्य कर्त्तव्य है।

'पात्रे तैलं यथा हि प्रदीपस्य स्थितिकारणम्।
तथा देहे देहिनो यन्मुक्तं तेनायुषा यजे।।'–

—पं० आशाधर, नित्य पूजा-पाठ, 9, पृ० 109।

"ओं ह्रीं आयु:कर्म रहिताय श्री सिद्धाधिपतये नम:।"

सन्दर्भ सूची–

1. मूलाचार, 3/119।
2. **"विमोहितानां मरणं महद भयम्।"** *–कल्याणकारक, परि० 3, पृ० 704।*
3. छन्दोऽनुशासनम् 3/39-16।
4. **"उदेति पाताय रविर्यथा तथा शरीरमेत्तन्नु सर्वदेहिनाम्।"** *–पद्म० पं०, 3/7।*
5. समयसार, 8/248।
6. गीता, 2/34।
7. रघुवंश, 1/8।
8. तत्त्वार्थसूत्र, 7/2।
9. आ० समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार।
10. ईशावास्योपनिषद् 3।
11. विशेष द्र०, पं० सदासुखदास कासलीवालकृतं 'मृत्युमहोत्सव', पद्य क्र० 4-8, 10, 12-16, 18।
12. आचार्य पूज्यपादकृत 'समाधिशतक'।
13. 'जिनसहस्रनाम', 3/9।
14. 'क्षत्रचूड़ामणि', 2/57।
15. आचार्य एकसन्ध्य, 'जिनसंहिता', 2/75।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौरसेनी प्राकृत का तापक्रम

—प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

प्राच्य एवं पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिक अपने दीर्घकालिक अन्वेषणों तथा प्राच्य भारतीय लक्षणशास्त्रियों द्वारा घोषित "प्राकृतजनानामिदं प्राकृतम्" जैसे लक्षणसूत्रों पर विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद काल की समानान्तर जनभाषा प्राकृत थी।

वह जनभाषा उस समय किस नाम से अभिहित थी, किन-किन नामों से वह प्रसिद्ध रही होगी, इसकी निश्चित जानकारी नहीं मिलती है। किन्तु भरत मुनि जैसे प्राचीन लक्षणशास्त्रियों ने समकालीन प्रचलित प्राकृतों का क्षेत्रीयता के आधार पर वर्गीकरण कर उन्हें मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी एवं अर्धमागधी के नाम से अभिहित किया तथा प्राकृत-वैयाकरण वररूचि ने शौरसेनी को मागधी एवं पैशाची का मूल प्रकृति माना। "प्राकृत-सर्वस्व" के लेखक मार्कण्डेय ने तो अपने पूर्ववर्ती समस्त भाषा-शास्त्रियों के सिद्धान्तों पर गहन विचारकर शौरसेनी-प्राकृत को सभी प्राकृतों की मूल प्रकृति घोषित किया।

शौरसेनी की शास्त्रीय-विशेषताएँ भले ही, अनेक हों किन्तु आधुनिक भाषिक-सिद्धान्तों के आलोक में युगों-युगों से वही भाषा प्राचीन एवं सर्वश्रेष्ठ मानी जाती रही है जिसमें—

1. वर्णलोप की प्रवृत्ति कम से कम हो,
2. वर्ण-परिवर्तन की प्रवृत्ति कम से कम हो,
3. लुप्त वर्णों के स्थान पर सुकुमार वर्णों का आगम हो, तथा
4. जो सर्वगम्य, सहज, सुकर और प्रवाहपूर्ण हो।

इन सभी दृष्टियों से उक्त प्राकृतों में से शौरसेनी प्राकृत ही ऐसी भाषा थी, जिसमें उक्त चारों लक्षण पाए गए। यही कारण है, कि नन्द एवं मौर्यकालीन अभिलेखों, भले ही उनमें क्षेत्रीय प्रभाव मिश्रित हो गए हों, तथा जैनागमों एवं संस्कृत-नाटकों में उसे प्रतिष्ठित स्थान मिला।

यान-वाहन के आजीवन त्यागी दिगम्बर श्रमणाचार्यों ने भाषिक गुणवत्ता के आधार पर शौरसेनी-प्राकृत की लोकप्रियता पर विशेष ध्यान देकर उसमें महावीर के सिद्धान्तों का कण्ठ-परम्परा से प्राप्त ज्ञान का ग्रथन किया। यद्यपि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
काल के अन्तराल से तथा बदली हुई प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण ज्ञानराशि का बहुल भाग लुप्त हो जाने के बाद जो अवशिष्ट अंश, बीहड़ गुफागृहों में एकान्त साधना करने वाले तपःपूत आचार्य गुणधर एवं धरसेन के पास सुरक्षित बचा था; उसे उन्होंने अपने पट्टशिष्यों-भूतबलि एवं पुष्पदन्त को सौंपा, जिन्होंने उसे सूत्र शैली में लिपिबद्ध किया। जो **षट्खण्डागमसूत्र** के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह आगम-साहित्य शौरसेनी-प्राकृत के आद्य पथ-निर्देशक सिद्धान्त-ग्रन्थ माने गए हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी बट्टेकर, शिवार्य, यातिवृषभ, सि० च० आचार्य नेमिचन्द्र एवं वसुनन्दि प्रभृति आचार्यों ने गुफाओं एवं वनों में रहते हुए भी तथा श्रद्धालु सद्गृहस्थों द्वारा संयोजित अविकसित एवं कष्टकर-लेखन-सामग्रियों द्वारा भी सरस शैली और लौकिक उदाहरणों के साथ पद्यबद्ध शौरसेनी-प्राकृत में अनेक सिद्धान्त-ग्रन्थों की रचना की। उक्त साहित्य प्रथम सदी ईस्वी के प्रारम्भ से 10वीं सदी के मध्य का है। बीच में युग-परिवर्तन के कारण इस परम्परा में भले ही बाह्य-परिवर्तन होता गया, किन्तु अन्तःसलिला की भाँति उसका अन्तःप्रवाह जारी रहा। इस दृष्टि से शौरसेनी में साहित्य-लेखन में महाकवि रइधू (सन् 15-16वीं सदी) इस परम्परा मे अन्तिम कवि सिद्ध होते हैं, जिनकी दो विशाल रचनाएँ उपलब्ध हुई है – (1) सिद्धंतत्थसार (सिद्धान्तार्थसार) एवं (2) वित्तसार (चारित्रसार)। शौरसेनी प्राकृत के गाथाबद्ध ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ विषय की दृष्टि से तो विशेष महत्व के हैं ही, उनकी सान्ध्यकालीन शौरसेनी-प्राकृत होने के कारण अथवा हिन्दी के विकासकाल की शौरसेनी-प्राकृत होने के कारण भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास के अध्ययन की दृष्टि से भी वे विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

सामाजिक परिवर्तनों के कारण भाषा में परिवर्तन होना भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया मानी गई। भले ही वह स्थूल रूप से दिखाई न पड़े। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रथम सदी ईस्वी से लेकर 16वीं सदी तक शौरसेनी का तापक्रम ठीक रहा, किन्तु परवर्त्ती कालों में उससे उद्भूत भाषाओं का विकास एवं उनमें साहित्य-प्रणयन तो होता रहा, किन्तु मूल शौरसेनी-भाषा में साहित्य-प्रणयन पूर्णरूपेण अवरूद्ध हो गया। वर्तमान सदी के लगभग एक दशक पूर्व तक यही परम्परा चलती रही। यद्यपि उसके अध्येतागण उसके दार्शनिक पक्ष को महत्त्व देकर उसका स्वाध्याय, पठन-पाठन एवं शोधकार्य तो करते रहे, किन्तु मौलिक साहित्य-प्रणयन एवं मूलभाषा-पक्ष के अध्ययन की दृष्टि से उसके प्रति अरूचि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा उसकी उपेक्षा की जाने लगी।

शौरसेनी-प्राकृत वस्तुतः उन माता के समान है, जिसके आँचल में समस्त नामित प्राचीन प्राकृतों के अधिकांश लक्षण सुरक्षित है। जैसा कि सुप्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय'' ने भी कहा है–**''समस्त प्राकृतों की मूल प्रकृति शौरसेनी है।''**

भारत के सुदूरवर्त्ती सीमापार की भाषाओं के अध्ययन से भी विदित होता है कि शौरसेनी प्राकृत का विस्तार अथवा प्रभाव-क्षेत्र प्राच्य भारत के चतुर्दिक् कोणों तक ही नहीं; बल्कि उत्तर में पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, तिब्बत, पुरातन-सोवियत के पश्चिमी देशों तथा अफगानिस्तान, पर्शियन गल्फ के अधिकांश देश तथा मिश्र, दक्षिण में श्रीलंका, दक्षिण-पूर्व के एशियाई देश तथा जापान आदि तक था। इस दिशा में किसी का ध्यान नहीं गया है। वस्तुतः इस विषय में गम्भीर, निष्पक्ष एवं तुलनात्मक अध्ययन तथा शोध की महत्ती आवश्यकता है।

जिस भाषा का अतीत इतना गौरवपूर्ण रहा हो और जिसमें विश्व के बहुत प्रदेशों की जनभाषा, संस्कृति, जीवन-दर्शन, साहित्यिक शैलियाँ तथा लोकजीवन की जीवन्त झाँकियाँ सुरक्षित हों; उसकी दुखद उपेक्षा की ओर दिल्ली स्थित कुन्दकुन्द भारती ने विशेष ध्यान ही नहीं दिया, बल्कि इसे प्राच्य भारतीय-विद्या तथा श्रमण-विद्या की महान क्षति तथा भारतीय प्राच्य विद्या के अद्यावधि किए गए अध्ययन को एकांगी एवं त्रुटिपूर्ण अनुभव किया। अतः पिछले वर्ष कुछ विद्वानों ने आचार्यश्री विद्यानन्दजी महाराज की प्रेरणा से उन्हीं के सान्निध्य में विचार-विमर्श कर एक प्राथमिक प्रयोग के रूप में राष्ट्रिय स्तर की एक शौरसेनी प्राकृत संगोष्ठी के आयोजन का ऐतिहासिक निर्णय लिया, जिसमें भारतीय विश्व विद्यालयों, महाविद्यालयों, शोध-संस्थानों तथा अन्य अनुभवी अवकाश प्राप्त लगभग 50 शोध-निबन्धों के साथ उक्त संगोष्ठी 28-30 अक्टूबर 1994 में आयोजित की गई। उसमें उपस्थित विद्वानों का उत्साह अभूतपूर्व रहा। सभी विद्वानों ने आधुनिक भाषाओं की जननी शौरसेनी प्राकृत की उपेक्षा कर बड़ा खेद व्यक्त किया तथा सर्वसम्मति से उसके उत्थान हेतु राष्ट्रीय, प्राकृत अकादमी की स्थापना; संस्कृत, अरबी, फारसी के समान ही प्राकृत के अनुभवी विशेषज्ञों को भी राष्ट्रपति सम्मान पुरस्कार प्रदान करने तथा यू०जी०सी० द्वारा अपने पूर्ण व्यय पर प्रत्येक विश्वविद्यालय में प्राकृत-अपभ्रंश के विभाग खोलने आदि सम्बन्धी प्रस्ताव पास किए। उसी समय प्रो० (डॉ०) मंडन मिश्र की अध्यक्षता में एक **शौरसेनी प्राकृत विद्वत् संसद** की स्थापना भी की गई, जो उसके विकास तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्न करेगी।

इसी श्रृंखला में 3 जून 1995 को कुन्दकुन्द भारती के आह्वान पर **अखिल भारतीय शौरसेनी प्राकृत कवि सम्मेलन** का आयोजन भी किया गया। आयोजन के पूर्व आयोजकों को उसकी सफलता पर सन्देह हो रहा था, किन्तु उस दिन कविगण प्राकृत कविता-पाठ में जितने उत्साहित थे, उतने ही उत्साहित एवं प्रमुदित थे श्रोतागण भी; जिनमें प्राकृत-भाषा से अनभिज्ञ महिलाएँ, पुरुष एवं बच्चे बच्चियाँ भी उपस्थित थे। और प्राकृत काव्य-गोष्ठी का यह चमत्कार ही माना जाना चाहिए कि 2 1/2 घण्टे का निर्धारित उक्त आयोजन 4 घण्टे तक अविरामगति से चलता रहा और समस्त श्रोता एक आसन से बैठे-बैठे उसका एकरस होकर आस्वादन करते रहे। इस काव्य-गोष्ठी की आशातीत सफलता ने आगे के इसी प्रकार के आयोजनों के लिए पर्याप्त प्रेरणा एवं उत्साह प्रदान किया। इन समस्त कार्यक्रमों की विस्तृत जानकारी हमारे सहयोगी सम्पादक डॉ० सुदीप ने प्राकृतविद्या के पिछले (7/1, अप्रैल-जून 95) अंक में दे दी है। ये आयोजन शौरसेनी प्राकृत के प्राथमिक प्रयोग होने के कारण शौरसेनी के इतिहास तथा भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 16वीं सदी तक शौरसेनी का तापक्रम भारत की विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से ठीक रहा किन्तु परवर्त्ती कालों में उससे उद्भूत भाषाओं में प्रचुरमात्रा में साहित्य-प्रणयन तो होता रहा किन्तु मूल शौरसेनी प्राकृत में मौलिक साहित्य-प्रणयन पूर्णरूप से अवरुद्ध हो गया। यह स्थिति लगभग साढ़े चार सौ वर्षों तक अर्थात् वर्तमान सदी के लगभग एक दशक पूर्व तक चलती रही। उसके अध्येतागण उसके दार्शनिक पक्ष को महत्त्व देकर उसका स्वाध्याय, पठन-पाठन एवं शोधकार्य तो करते रहे, किन्तु उसमें साहित्य-प्रणयन एवं उसके भाषा-पक्ष के स्वतन्त्र अध्ययन की उपेक्षा की जाने लगी।

प्राचीन भारत में प्राकृत काव्यगोष्ठियों की चर्चा दुर्लभ्य है। चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य, राजा भोज एवं चालुक्य सम्राट् कुमारपाल के दरबार में कवि सम्मेलन तो होते थे; किन्तु वे संस्कृत कवियों से सम्बन्धित थे। पाटलिपुत्र की सुप्रसिद्ध शास्त्रकार परीक्षा, जिसमें आचार्य समन्तभद्र तथा महाकवि हरिचन्द्र भी उपस्थित होकर सफल घोषित किए गए थे; वे भी संस्कृत से सम्बन्धित थे। सम्राट् अकबर के राजदरबार में भी कवि सम्मेलन होते थे किन्तु वे भी संस्कृत, फारसी एवं अरबी में हुआ करते थे। प्रतिष्ठान के सातवाहन नरेश के राजदरबार में प्राकृत के आद्य महाकवि गुणाढ्य ने पैशाची-प्राकृत की 'वड्ढकहा' का पाठ करना चाहा था,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु उसका उन्हें क्या फल मिला था, यह सभी जानते हैं। तात्पर्य यह कि 3 जून 95 की कुन्दकुन्द भारती द्वारा आयोजित शौरसेनी प्राकृत काव्य गोष्ठी भारतीय इतिहास में सम्भवत: सर्वप्रथम आयोजित थी तथा उस पर "न भूतो" की उक्ति तो चरितार्थ हो सकती है, किन्तु "न भविष्यति" की उक्ति चरितार्थ नहीं हो सकती। क्योंकि अगले वर्ष हमारे प्राकृत कविगण विशेष कल्पना-प्रस्तुत, अर्थगर्भित सरस एवं सुमधुर गेय शैली में शौरसेनी प्राकृत-कविताओं के साथ उपस्थित होने की प्रतिज्ञा कर विशेष उत्साह के साथ वापिस लौटे हैं।

उक्त तथ्यों से हम पूर्णतया आशान्वित हैं कि शौरसेनी प्राकृत का तापक्रम स्वाभाविक रूप से सम हो रहा है। हमारे सहयोगी विद्वान् अपनी साधना से उसके चतुर्दिक् विकास में सक्रिय सहयोग देते हुए उसे निरन्तर ही सम बनाए रखेंगे, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

**

शब्द प्राभृत

'सशब्द: स हि तर्कज्ञ: स सैद्धान्त स सत्तप:।
य: शासनसमुद्रभासी न चेत् किं तैरनर्थकै:।।'

—आचार्य गुणभद्र ; *उत्तरपुराण, 76/423*

भावार्थ—वही शब्दशास्त्र (व्याकरण) का ज्ञाता है, वही तर्कशास्त्र में निपुण है, वही सिद्धान्ताचार्य है, और बहुत कहने से क्या? वही वास्तविक तप करनेवाला है, जो वीतराग प्रभु के सत्य शासन की प्रभावना करता है। अन्यथा इन विविध शास्त्रसमूहों के परिज्ञान से क्या लाभ?

अर्थात् व्याकरण-अलंकार-तर्क इत्यादि का परिज्ञान दिव्यध्वनि प्रसूत भगवद्वाणी के अभिज्ञ होने से, उसका यथेष्ट प्रचार करने से सार्थक होता है, नहीं तो पौद्गलिक गल्लवादन निरर्थक ही है। शुद्ध शब्दशास्त्रादिका ज्ञान इसलिए अपेक्षित कहा जा सकता है कि व्याकरणसहित द्रव्यश्रुत और तदनन्तर भावश्रुत के सत्य ज्ञान का भाषागत मार्ग साधन बन सके।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीक्षा और दीक्षा की विधि

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

एक बार भी जिसने आत्म-हित का मार्ग प्राप्त कर लिया है, वह बार-बार सत्यानुसन्धान के द्वारा ज्ञान और वैराग्य में स्थिर हो जाता है, जिसे 'दीक्षा' या 'प्रव्रज्या' कहते हैं। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "मुनिपद लेने का क्रम तो यह है—पहले तत्त्वज्ञान होय, पीछे उदासीन परिणाम होय, परीषहादि सहने की शक्ति होय; तब वह स्वयमेव मुनि बना चाहे है।'' (मोक्षमार्ग प्रकाशक, छठा अधिकार) वास्तव में क्रम यही है कि **शिक्षा के बिना दीक्षा, भिक्षा और प्रेक्षा नहीं होती।**

शिक्षा की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए आचार्य **उग्रादित्य** कहते हैं कि "शरीर योगियों की गुफा, घर है। अत: घर को पवित्र बनाये रखने के लिए निर्दोष आहार-विहार-नीहार की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है।'' उनके शब्दों में—

'आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्।
स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्।।
अन्य: स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो।
बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात्।। *—कल्याणकारक'*

अर्थात्— आरोग्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्तकर अनगार साधु अपने सम्यक् स्वभाव में लीन हो स्वास्थ्य (स्व में स्थित) साधकर सिद्ध-सुख को प्राप्त कर लेता है। किन्तु जो स्वास्थ्य-विधान से अनभिज्ञ है, वह आहार-विहार-नीहार में सदोष होने के कारण तथा अपने ही खोटे-परिणामों से कर्म-बन्ध कर लेता है।

आचार्यों ने 'राग, द्वेष, मोह' को 'रोग' कहा है। ये जन्म-जन्मान्तरों तक बने रहने वाले मूल रोग हैं। संसार की अनन्तकाल तक बनी रहने वाली बीमारी 'मोह' से ही उत्पन्न होती है। अत: 'मोह' को दूर करने के लिए तत्त्वज्ञान की शिक्षा साधक के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव का कथन है कि ज्ञान-ध्यान की शिक्षा सद्गुरु के प्रसाद से प्राप्त होती है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा आत्मध्यान यथार्थ में गुरू से ही उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द के ही शब्दों में—

'अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झाएव्वो णिच्चं णादूण गुरुपसादेण।। *(मोक्खपाहुड, गा० 64)*

अर्थात्— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से युक्त आत्मा सम्यक्चारित्रवान् होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा गुरू के प्रसाद से समझकर निज शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए।

शिक्षा का इसलिये भी महत्त्व है कि शास्त्रज्ञान कोई भी प्राप्त कर सकता है, किन्तु साधक तथा साधु का जीवन प्रायोगिक है, जो अनुभवसिद्ध होता है। सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना न शास्त्रज्ञान का मूल्य है और न सदाचार का। "धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है''—यह शिक्षा सद्गुरू से ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार– "अशुद्धभाव कर्मबन्ध का कारण है, शुद्धभाव कर्म-निर्जरा तथा मोक्ष का कारण है'' —यह शिक्षा देने वाले भी सद्गुरू हैं। कहा भी है–

'णाणं सिक्खदि णाणं, गुणेदि णाणं परस्स उवदिस्सदि।
णाणेण कुणदि णायं, णाणविणीदो हवदि एसो।। *(मूलाचार, 5, 191)*

अर्थात्– जो भव्यात्मा ज्ञान को सीखता है, ज्ञान का ही चिन्तन करता है, दूसरों को भी ज्ञान का ही उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय-प्रवृत्ति करता है—वह ज्ञानविनयवाला श्रमण कहा जाता है।

दीक्षा के लिए क्या आवश्यक है?

मूल में तत्त्वज्ञान की रुचि और वैराग्य के संस्कारों से रहित व्यक्ति निर्ग्रन्थ दीक्षा के योग्य नहीं है। जिसका मन संसार तथा घर-गृहस्थी में लगा हुआ है, जो शरीर के संस्कार से रहित नहीं है, जिसका कुल, गोत्र, चारित्र विशुद्ध नहीं है और जिसे प्रतिमाओं का अभ्यास नहीं है; वह व्यक्ति जिनदीक्षा के योग्य नहीं है। वास्तव में तो दीक्षा देने वाले आचार्य ही यह निर्णय करते हैं कि कब, किसे, क्या दीक्षा दी जाए या नहीं? फिर भी, जिन मुख्य नियमों का उल्लेख मिलता है वे संक्षेप में इस प्रकार हैं– आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि कलिकाल में भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादिरूप मल-कीचड़ से रहित सद्धर्मरक्षामणि जैसा समर्थ मुनि होता है। जिसने अनेक परिग्रह के विस्तार को छोड़ा है, जो पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान है —ऐसा मुनि इस भूतल पर तथा देवलोक में देवों से भी पूज्य है।

यह सुनिश्चित है कि बिना गुरू के कोई भी दीक्षा सम्भव नहीं है। यथार्थ में दीक्षा सामायिकचारित्र की होती है। सामायिक संयम को अंगीकार करने वाला दीक्षार्थी सामायिकचारित्र को ग्रहण कर दीक्षा लेता है तथा सामायिकसंयम के विकल्परूप अट्ठाईस मूलगुणों के निर्दोष विधि से पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। वास्तव में तो दीक्षागुरू निर्यापकगुरू भी होते है। किन्तु दीक्षागुरू के अभाव में निर्यापकगुरू अन्य कोई साधु भी हो सकते हैं। जो आचार्य लिंगग्रहण के समय निर्विकल्प सामायिकसंयम के प्रतिपादक होने से प्रव्रज्या देने वाले हैं, वे गुरू हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पश्चात् परवर्ती काल में 28 मूलगुणों व उत्तरगुणों में कुछ विराधना हो जाए, तो उसके प्रायश्चित्तादि विधान का जो उपस्थापक होता है, उसे निर्यापक कहते हैं। कहा भी है– **'लिंगग्गहणे तेसिं गुरू त्ति पव्वज्जदायगो होदि।**

छेदेसूवट्ठवगा ऐसा णिज्जावगा समणा।।'

–प्रवचनसार, गा० 210

अर्थात्– निर्विकल्प सामायिक संयम की दीक्षा ग्रहण करते समय जो दीक्षा दायक है, वह दीक्षागुरू है और बहिरंग छेद (च्युति, दोष) में जो उपस्थापक श्रमण है, वह निर्यापक गुरू है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि जो दु:खों से छूटने की इच्छा वाला भव्य जीव है, वह सर्वप्रथम पंचगुरुओं को नमस्कार करता है। फिर, मात्र ज्ञाता-द्रष्टारूप श्रामण्य होने की भावना भाता है।

दीक्षार्थी की भावना–

जो श्रमण होने के लिए ज्ञान-वैराग्य से सिक्त हो निरन्तर उत्फुल्ल हो रहा है, जिसे रात-दिन अपने में समाने की लगन लगी है; वह घर-परिवार वालों से कहता है–"इस मनुष्य शरीर के बन्धुवर्ग में रहने वाली हे आत्माओ! आप सब में मुझ आत्मा का कुछ भी नहीं है, इसलिये अब तुम से विदा लेकर अपने अनादि बन्धु के पास जा रहा हूँ।'' इसी प्रकार से वह माता-पिता से कहता है कि "तुम दोनों इस मनुष्य शरीर के उत्पादक हो, आत्मा के नहीं। अब यह आत्मा अनादि जनक के पास जा रहा है।''. इसी तरह से वह पत्नी से विदा माँगता हुआ कहता है–"तुम इस शरीर को रमाने वाली हो, आत्मा की नहीं। आज यह आत्मा अनादि रमणी स्वानुभूति के निकट जा रहा है।'' इस प्रकार भिन्न ज्ञानज्योति सम्पन्न दीक्षाभिलाषी पुरूष विभिन्न उक्तियों के द्वारा पुत्र, गुरूजनों तथा बन्धु-बान्धवों से अनुज्ञा लेकर उनके प्रति ममत्व भाव से मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करता है। बन्धुवर्ग से विदा लेने का विधान अनेक शास्त्रों में वर्णित है। यथा–

'सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान्।

तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत्।।' *–महापुराण, 38,/151*

अर्थात्– घर से विदाई लेते समय सबसे पहले सिद्ध भगवान् का पूजनकर सभी इष्ट जनों को बुलाना चाहिए। फिर, उन सबकी साक्षी में पुत्र को सब कुछ सौंपकर गृहत्याग करना चाहिए। अनन्तर वह श्रमणों को भी इष्ट गणी के चरणों में प्रणत हो कर ऐसा निवेदन करे – "गुरुवर ! मुझे स्वीकार करें,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मतत्त्व को प्राप्त होता हूँ, अनुगृहीत हूँ। जैनदीक्षा दे कर शुद्धात्मोपलब्धिरूप सिद्धि से मुझे अनुगृहींत कीजिए।''

जिनमुद्रा में विराजित, पंचाचार से विशिष्ट, सभी साधुओं द्वारा सम्मान्य, यथोचित अवस्था वाले आचार्य शुद्धात्मभावना से सम्पन्न दीक्षार्थी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की आराधना की सफलता हेतु ''तथास्तु'', ऐसा मंगल आशीर्वाद देते हैं। तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधर होता है। कहा भी है– **'ततस्तदाज्ञामृतपानपुष्टो, निर्बन्धगन्धद्विपवत्प्रतृष्टः।**

बाह्यात्तरंगं परिहृत्य संगं, शस्ते मुहूर्ते स्थिरलग्नपूर्ते।।' *–आचारसार, 1, 10*

अर्थात्– वीरनन्दि कहते हैं कि बन्धु-बान्धवों से सहर्ष अनुमति ले कर पूज्य आचार्य की आज्ञारूपी अमृत का पान करके तथा राग के बन्धन से मुक्त होकर मदोन्मत्त गज के समान प्रसन्नता से भीतरी-बारही परिग्रह का त्यागकर स्थिर लग्न वाले प्रशस्त मुहूर्त में दीक्षा लेनी चाहिए।

मुनि-दीक्षा के लिए निम्नलिखित नक्षत्र वर्जित है–

रोहिणी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, स्वाति, कृतिका—ये पाँचों अनुपयुक्त हैं।

मुनि-दीक्षा के लिए प्रशस्त नक्षत्र इस प्रकार माने गए हैं–

भरणी, उत्तराफाल्गुनी, मघा, चित्रा, विशाखा, पूर्वाभाद्रपदा, तथा रेवती —ये सातों नक्षत्र श्रमणदीक्षा के लिए शुभ हैं। कहा भी है—

भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघाचित्राविशाखिका:।
पूर्वाभाद्रपदा भानि रेवती मुनि-दीक्षणे।।2।।

श्रमण-दीक्षा के काल में दीक्षार्थी निरन्तर उत्तम दर्शनविशुद्धि भावना भाता है। आचार्य कुन्दकुन्द उस भाव को इन शब्दों में प्रकट करते हुए कहते हैं–

'णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमहि किंचि।
इति णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो।।' *–प्रवचनसार, 204*

अर्थात्– श्रमण-दीक्षार्थी निरखता है कि 'मैं दूसरों का किसी भी प्रकार कुछ नहीं हूँ, पर पदार्थ भी मेरे कुछ नहीं हैं। उनसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है।' —इसप्रकार जिसने अन्य से अकेला होने का निश्चय किया है, वह इन्द्रिय-मन को जीतकर दिगम्बरी मुद्रा को धारण कर लेता है।

जिनागम में यह भी उल्लेख है कि यदि कोई दीक्षार्थी आकर यह कहे कि आप धर्मोपदेश कीजिए, मैं आपके चरणामें में दीक्षा लेना चाहता हूँ; तो ऐसा कहने पर भी आचार्यप्रवर मन से उसकी चाहना नहीं करते; तब वचन और काय से तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कहना ही क्या है? अन्य जो मुनि उनके सहायक होते हैं, वे उसे धर्मोपदेश देकर शिक्षापूर्वक श्रामण्य के लिए अभिमुख व्यक्ति को 'स्वसमय' नाम की दीक्षा, 'दीक्षा' का क्षेत्र एवं स्वसंवेदनमय समय मात्र को दीक्षा कहकर सम्पूर्ण शिक्षा को व्यावहारिकरूप से समझाता है, आचार्य की वन्दना करना सिखाता है। समाचारी के अन्तर्गत गवासन में स्थित होकर श्रमण शिष्य पार्श्वशय्या से 'पिच्छी' को मस्तक से स्पृष्ट कर आचार्य की वन्दना करते समय ऐसा कहता है— **"तिखुत्तेण वंदामि"**। आचार्यश्री भी मुनि के लिए **"पंडिवंदामि"** कहते हैं। शिष्य निवेदन करते समय दोनों हाथ जोड़कर अपने भाव विज्ञापित करता है। कहा है— **अथ विज्ञापयाभास नतो भूत्वा कृताञ्जलिः।**

यह स्वाभाविक ही है भक्ति-वन्दनादि की शिक्षा प्राप्त किए बिना कोई भी श्रावक मुनि-दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। अतः दीक्षा लेने के पूर्व बहुत अधिक प्रशिक्षण आदि की आवश्यकता है। वास्तव में उसके उभयविध प्रशिक्षण के बिना दीक्षा सही नहीं हो सकती। आचार्य इन्द्रनन्दि के शब्दों में–

'नूतनस्याग्रशिष्यस्य क्षमाध्ययनशालिनः।
मुखशुद्ध्यादिकं नैव यावन्न गुरुणोच्यते।।' —*नीतिसार, 20*

अर्थात्– क्षमाशील तथा अध्ययनशील प्रधान शिष्य की जब तक मुख-शुद्धि आदि योग्यता प्रकट नहीं हो जाती, तब तक गुरुदेव प्रवचन (वाग्दीक्षा) की आज्ञा नहीं देते हैं।

वाग्दीक्षा–

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं– यथार्थ में ज्ञान ही प्रव्रज्या है। (समयसार, गा॰ 404) उस नित्य दीक्षा, भगवती दीक्षा (भगवान बनने (होने) की दीक्षा) के पूर्व विधिपूर्वक सामायिकचारित्र की दीक्षागुरु देते हैं। लेकिन वह दीक्षा तभी दी जाती है, जब मुखशुद्धि या वाग्दीक्षा हो गई हो।

"मुद्दा इह णाणाए" (बोधपाहुड, गा॰ 19) अर्थात् जिस मुनिमुद्रा में रात-दिन पठन-पाठन के द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है, वह जिनमुद्रा है। नूतन दीक्षार्थी को जिनमुद्रा धारण करने का अभ्यास करना होता है, **"मुक्तकरणपाठ-क्रियायाम्"** इत्यादि पाठ का उच्चारण करते हुए सिद्धभक्ति-योगिभक्ति आदि दश भक्तियों को कण्ठस्थ कर अर्थ-सहित वाचन करने पर मुखशुद्धि का अधिकार ग्रहण करता है।

आचार्य शिष्य को सर्वप्रथम एक पाद के अर्थ की शिक्षा देते हैं। शिष्य अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुद्धि से द्वितीय पाद का चिन्तन करता है, अनुभवी श्रमण साधुओं की सेवा से उसे तृतीय पाद की प्राप्ति होती है तथा वह कालान्तर में परिपक्व होकर उसे चतुर्थ पाद प्राप्त होता है। अत: ज्ञान की प्राप्ति के चार चरण हैं। कहा भी है–

आचार्य: पादमाचष्टे, पाद: शिष्य: स्वमेधया।
तद् विज्ञसेवया पाद:, पाद: कालेन पच्यते।। –*धवला पु० 12, पृ० 171*

दीक्षा-विधि—मुनि-दीक्षा का यह सबसे बड़ा नियम है कि दीक्षा एक तत्त्वज्ञानरूप संस्कार है, अत: सतत उसके अभ्यास में ही लगे रहना चाहिए। यदि मिथ्यात्व से दूषित कोई भव्य पुरूष समीचीन मार्ग को ग्रहण करने के सन्मुख हो, तो वह गुरुदेव के पास जा कर यथायोग्य धर्मोपदेश प्राप्त करता है तथा समीचीन मार्ग में बुद्धि लगाता है। गुरू ही उस समय पिता है और तत्त्वज्ञानरूप संसार ही गर्भ है। वास्तव में दीक्षा के रूप में भव्य प्राणी अवतार धारण करता है। आ० जिनसेन ने दीक्षान्वय की ऐसी अड़तालीस क्रियाओं का उल्लेख किया है, जो 'शिक्षा' के अन्तर्गत विशेषरूप से स्मरणीय हैं। *(महापुराण, अ० 39, श्लो० 1-80)*

दीक्षार्थी दीक्षा के पूर्व दिन में भोजन के समय भोज्यपात्रों का परित्यागकर पाणि-सम्पुट में ही आहार लेकर चैत्यालय में प्रवेश करता है। पश्चात् वृहत् प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन में सिद्धभक्ति एवं योगिभक्ति का पाठकर गुरु के पास जाता है और उपवाससहित प्रत्याख्यान ग्रहणकर आचार्य शान्ति-समाधिभक्ति पढ़ कर गुरु को अष्टांग प्रणाम करता है।

दीक्षाविधि के दिन दीक्षाविधि को सम्पन्न कराने वाले श्रावक यथाशक्ति शान्तिक एवं गणधरवलय की पूजन करते हैं। पश्चात् श्रावक दीक्षार्थी को स्नान करवाकर यथायोग्य वस्त्रालंकार पहनाकर बड़े भारी उत्सव के साथ दीक्षार्थी को लिवाकर जिन-मन्दिर में जाते हैं। वहाँ पर दीक्षार्थी वैराग्य भावों से भर प्रथम देव-शास्त्रगुरू की पूजा करता है। फिर वहाँ पर उपस्थित सभी लोगों से क्षमायाचना करता है और सभी को क्षमा करता है। अनन्तर वस्त्रादि का परित्यागकर वन्दनापूर्वक गुरू के सम्मुख जाकर बैठता है। फिर श्रमण संघ के समक्ष दीक्षा के लिए गुरू से याचना करता है। (अनुमति मिलने पर) गुरू की आज्ञा से सौभाग्यवती महिला चावलों से भूमि पर स्वस्तिक की रचना करती है। फिर, दीक्षार्थी पूर्व दिशा की ओर मुँहकर पालथी लगाकर वहाँ बैठ जाता है। उसी समय गुरू समस्त संघ से अनुमति लेकर उत्तर की ओर मुँह कर दीक्षार्थी का केशलोंच करने के पूर्व दीक्षा की अनुमति देते हैं। फिर, सुगन्धित जल को तीन बार शान्तिमन्त्र से अभिमन्त्रित कर दीक्षार्थी के मस्तक पर डालते हैं। इस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीन बार सुगन्धित जल से मस्तक को सिंचितकर अपने बायें हाथ से उसके मस्तक का स्पर्श करते हैं। उसके मस्तक पर **'श्री'** शब्द लिख कर **'ॐ ह्रीं अर्ह असिआउसा ह्रीं स्वाहा'** मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करते हैं। जाप्य के पश्चात् दीक्षार्थी की अंजलि में केशर, कर्पूर और श्रीखण्ड से 'श्री' लिख कर गुरू महाराज **'श्री'** के चारों ओर **'रत्नत्रयं वन्दे'** यह श्लोक पढ़ते हुए पूर्व में 3, दक्षिण में 24, पश्चिम में 5 और उत्तर की ओर 2 अंक लिखते हैं। फिर, **'सम्यग्दर्शनाय नमः'** पढ़ते हुए दीक्षार्थी की अंजलि को अक्षतों से भरते हैं और उसके ऊपर में नारियल, सुपारी रख कर सिद्ध-चारित्र-योगिभक्ति का पाठ करते हुए उसका केशलोंच करते हैं। उसे परम निर्ग्रन्थ नाग्न्यरूप प्रदान करते हैं। साथ ही यह भी प्रबोध देते हैं कि जो समाचारी के पालन में खेदखिन्न होता है, वह अवसन्न होता है, उसका चारित्र नष्ट हो जाता है। जैसे लोक में हीरा, माणिक आदि रत्नों के उपार्जन के लिए बहुत श्रम करना पड़ता है। रत्नों के अर्जित होने पर उनका संरक्षण बड़ा कठिन होता है। जैसे कि कुशल व्यापारी रत्नों से भरी नाव के साथ अपने नगर के पास लौटकर आता हुआ प्रमादवश मूढ़ होकर सागर के जल में डूब जाता है, वैसे ही रत्नत्रय की नौका पर सवार होकर अनगार प्रमादवश संयम-धन को डुबो देता है। अतः रत्नत्रय की उपलब्धि होने पर भी निरन्तर जागृत रहना अनिवार्य है। यदि कदाचित् ज्ञान की कमी है और तपविशेष है, तो भी पूज्य है। और तपन्यून है, तब तो केवल गण, गच्छ बढ़ाने के लिए है; उससे कोई लाभ नहीं है। कहा भी है–

'ज्ञानं पूज्यं तपोहीनं, ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्।
यत्र द्वयं स देवः स्यात्, द्विहीनो गणपूरणः।।'

–उपासकाध्ययन, (सिद्धान्तसार) 815

अर्थात्– यह विशेषरूप से ज्ञातव्य है कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र में पूज्यता नहीं होती है। इस प्रकार आचार्यों का मन्तव्य अत्यन्त स्पष्ट है।

वर्तमान परिस्थितियों में यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य प्रतीत होता है कि गुरु पदवी पर समासीन श्रमण साधु संघ आगम में वर्णित व्यवस्था के अनुसार ही श्रामण्य के इच्छुक दीक्षार्थी की भावुकता में न बहकर तथा मात्र संघ-वृद्धि की चिन्ता न कर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की पवित्रता के साथ वर्तन-प्रवर्तन में रत्नत्रय की कुशलता एवं संघ की गरिमा को ध्यान में रखकर अपने दृढ़ संयम का परिचय देंगे।

★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्र-रचना के सिद्धान्त और समयसार

—डॉ० सुदीप जैन

प्राय: ऐसा समझा व समझाया जाता है कि जैन आचार्य जीवों पर करुणा बुद्धिपूर्वक आत्महितकारी उपदेश देते थे और उन्हीं को वे प्राय: लिपिबद्ध कर देते थे, जिन्हें हम 'शास्त्र' के रूप में पाते हैं। इससे द्योतित होता है कि आचार्यों का लेखन किसी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं होता था, बस स्व-परहित की कामना जो कुछ जिनशासन के सिद्धान्तों का लेखन कर दिया; उसी को 'शास्त्र' कहा गया है। जबकि ऐसा कहना पूर्णत: सत्य नहीं है। अभिप्राय यह है कि यह तो सत्य है कि 'जैनाचार्य करुणाबुद्धिपूर्वक उपदेश[1] देते थे एवं स्व-पर हितकामना[2] से शास्त्र-रचना करते थे; किन्तु वे यादृच्छिकरूप से मात्र उपदेश शैली में ही शास्त्र-रचना कर देते थे, शास्त्र निर्माण के नियमों के बारे में विशेष सावधानी या ज्ञान नहीं रखते थे' —ऐसा सोचना व कहना, दोनों ही जैनाचार्यों व जैनशास्त्रों की गरिमा को कम करना है।

प्रथमत: 'शास्त्र' का लक्षण यहाँ विवक्षित है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने 'शास्त्र' का लक्षण निम्नानुसार बतलाया है–

"वर्णात्मकं हि पदं, पदसमुदायविशेष: सूत्रं, सूत्रसमूह: प्रकरणं, प्रकरणसमिति-राह्निकम्, आह्निकसंघातोऽध्याय:, अध्यायसमुदाय: शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम्।"[3]

अर्थ–'वर्णों की एकात्मकता को '**पद**' कहते हैं, पदों के विशेष समुदाय को '**सूत्र**' कहते है, एक विषय के कतिपय सूत्रों के समूह को '**प्रकरण**' कहते हैं, कतिपय विषयों के निरूपण करने वाले प्रकरणों के समुदाय को '**आह्निक**' कहते हैं। आह्निकों के समुदाय को '**अध्याय**' कहते हैं। और अध्यायों का समुदाय '**शास्त्र**' कहलाता है।' —इसके अनुसार 'जिसके द्वारा सूत्रार्थ शासित किया जाता है, वह '**शास्त्र**' है।'

वर्णों से पदों की रचना का उल्लेख आचार्य अमृतचन्द्र ने भी किया है–

"वर्णै: कृतानि चित्रै: पदम्........।"[4]

वर्ण और पद की स्थिति के बारे में 'वाक्यपदीय' के कर्त्ता लिखते हैं कि "पद के बदलने पर भी वर्णों का एकत्व नष्ट नहीं होता है। भिन्न-भिन्न वाक्यों में भी वही पद मिलते हैं।"[5] जैन ग्रन्थों में 'पद' का प्रमाण कुछ भिन्न ढंग से प्रतिपादित किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—'प्रमाणपद' का आकार कितना हो सकता है, इसके बारे में आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं —**"तत्थ पमाणपदं अहक्खरविप्पण्णं, जहा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं'–इच्चाई। एदेहिं चदुहिं पदेहिं एगो गंथो।"**[6] अर्थात् एक 'प्रमाणपद' के आठ अक्षरों से निष्पन्न होता है, जैसेकि 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' —इत्यादि वाक्यांश 'प्रमाणपद' है। ऐसे चार प्रमाण पदों का एक ग्रन्थ (गाथासूत्र) बनता/होता है। 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' की टीका[7] में भी 'प्रमाणपद' का यही स्वरूप बतलाया गया है। इस प्रकार 'वर्ण' और 'पद' के बारे में संक्षिप्त रूप से कथन हुआ; अब पदों से निर्मित होने वाले 'सूत्र' का परिचय अपेक्षित है। 'जयधवला' में सूत्र का लक्षण निम्नानुसार प्रतिपादित किया गया है—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं, सारवद्गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं, सूत्रमित्युच्यते बुधैः।। —एवं सव्वं वि सुत्तलक्खणं।"[8]

अर्थात् 'जिसमें अक्षर कम हों, जो सन्दिग्ध वर्णनों से रहित हो, जिसमें 'सार' अर्थात् निचोड़ भर दिया गया हो, जिसका अर्थ गूढ़ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्यात्मक हो; उसे विद्वज्जन 'सूत्र' कहते हैं। ये ही सातों सूत्र के लक्षण हैं।'

प्राचीन मूल आगम ग्रन्थों की समस्त गाथायें 'सूत्र' की परिभाषा को आत्मसात् किये हुए हैं, अतः उन्हें 'सूत्र' या 'गाथासूत्र' की संज्ञा दी गयी है। 'समयसार' की 'आत्मख्याति' टीका के प्रारम्भ में ही आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं— **"अथ सूत्रावतारः।"**[9]

इन गाथासूत्रों के प्रत्येक वर्ण (अक्षर) मणिकांचनयोग के समान परिशुद्ध एवं सुगठित होते हैं। उनके पाठों को ज्यों का त्यों परिशुद्ध रूप में रखना चाहिए, उनमें अज्ञानता या प्रमादवश न तो कोई परिवर्तन किया जा सकता है और न ही ऐसे परिवर्तनों को स्वीकारने की छूट दी जा सकती है। इस बारे में 'भगवती आराधना' के टीकाकर्त्ता आचार्य अपराजितसूरि लिखते हैं— **"यथा गणधरादिभिर्द्वा-त्रिंशद्दोषवर्जितसूत्राणि कृतानि, तेषां तथैव पाठः।"**[10] अर्थात् जैसी गणधरों एवं अन्य आरातीय आचार्यों ने बत्तीस दोषों[11] से रहित सूत्ररचना की है, उन सूत्रों का वैसा ही पाठ रखना चाहिए, उनमें फेरबदल नहीं करना चाहिए।

सूत्रलक्षण एवं कुन्दकुन्द के गाथा सूत्र—युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द के गाथा सूत्रों में 'सूत्र' के उपर्युक्त सातों लक्षण अनवरत प्राप्त होते हैं। इसे हम निम्नानुसार समझ सकते हैं—

(1) अल्पाक्षरत्व—प्रत्येक गाथासूत्र में शब्द-परिमाण सीमित है और अर्थगांभीर्य अपार है, जो कि उनके टीकाकारों ने संकेतित किया है। साथ ही कहीं भी पादपूर्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे प्रयोग नहीं है। जहाँ कहीं **'परमट्ठवियाणया बिंति', 'भण्णदि सो णिच्छ्यविदूहिं', 'समयस्स वियाणया बिंति'**[12] —जैसे प्रयोग भी जाये हैं; तो वे विषय की साक्षी प्रस्तुत करने हेतु सार्थक एवं सोद्देश्य हैं, पादपूर्ति के लिए नहीं।

(2) असन्दिग्धत्व—शायद, संभवतः, 'कदाचित् ऐसा हो सकता है' अथवा ये है या ये है' —जैसे अनिर्णयात्मक निरूपण कुन्दकुन्द के गाथासूत्रों में कहीं भी नहीं आते हैं। बल्कि वे अन्यत्र कहीं अस्पष्ट या नरम शब्दों में कहे गये प्रकरण को अपने ग्रन्थों में अधिक दृढ़ शब्दों में अधिकारपूर्वक स्पष्टरूप से प्रतिपादित करते हैं। जैसे कि व्यवहार और निश्चयनयों में से किसका कथन किस पात्रता वाले जीव के लिए है, —यह बात कुन्दकुन्द आचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कही है— **''सुद्धो सुद्धादेसो, णादव्वो परमभावदरिसीहिं।**
ववहारदेसिदा पुण, जेदु अपरमेट्ठिदा भावे।।[13]

(3) सारवत्त्व—कुन्दकुन्द के वचन निष्कर्षात्मक हैं, वे दो टूक शब्दों में विषय का निष्कर्ष अपने गाथा सूत्रों में प्रस्तुत करते हैं। यथा—

''दंसण-णाण-चरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।''[14]

(4) गूढ़निर्णयत्व—अनेकों गूढ़ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जिनके बारे में केवली या श्रुतकेवली के वचन ही प्रामाणिक कहे जा सकते हैं; आरातीय आचार्यों के नहीं। ऐसे प्रकरणों को केवली या श्रुतकेवली की साक्षी देते हुए स्पष्ट निर्णय के साथ प्ररूपित किया है। जैसे कि कर्मपरमाणु केवलज्ञानगम्य हैं, जीव के विकारी परिणामों का निमित्त पाकर वे बंधे या नहीं — यह केवली के अतिरिक्त कोई अधिकारपूर्वक नहीं कह सकता है; अतः आ० कुन्दकुन्द ने पहिले तो स्पष्टरूप से कह दिया कि 'क्रोधादि में प्रवर्तमान जीव के कर्म का बन्ध होता ही है' और वहीं **''भणिदो खलु सव्व दरिसीहिं''** कहकर इसके बारे में केवली को साक्ष्यरूप में उपस्थित कर दिया है।[15] किन्तु जो प्रकरण अपने अनुभव के आधार पर अधिक दृढ़ता से प्रतिपादित किये जा सकते हैं, उन्हें कुन्दकुन्द ने 'मैं अपने अनुभव के आधार पर यह बात कह रहा हूँ' ऐसा स्पष्ट घोष करते हुए प्ररूपित किया है। यथा— **''तं एयत्तविहत्तं दाएज्जं अप्पणो सविहवेण।''**[16]

इतना ही नहीं, वें अपने निर्णय को सारी दुनियाँ उलट-पुलट हो जाये, तो भी नहीं बदलते हैं। जैसेकि समयसार गाथा 209 में वे स्पष्टरूप से कहते हैं कि "परद्रव्य छिदे, भिदे, उसे कोई ले जाये, नष्ट हो जाये अथवा अन्य कोई भी गति हो; तथापि परद्रव्य मेरा नहीं है— यह मेरा दृढ़ निश्चय है।''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(5) निर्दोषत्व—आ० कुन्दकुन्द के गाथासूत्रों में प्रत्यक्ष-अनुमान या आगमबाधित वचनों का अभाव है। अन्य भी किसी प्रकार का शास्त्रीय दोष उनमें नितान्त अनुपलब्ध है। शास्त्रनिर्माण की प्रक्रिया में संभावित जो बत्तीस दोष आगमग्रन्थों में गिनाये गये हैं, वे भी कुन्दकुन्द के गाथासूत्रों में कहीं भी कदापि प्रसक्त नहीं हुए हैं।

(6) हेतुमत्त्व—वे बिना हेतु के, बिना तार्किकता के अपनी कोई बात नहीं कहते हैं। जैसेकि समयसार में वे **"कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत्"** इस प्रश्न के उत्तरास्वरूप इस गाथा में तार्किक शैली में अपना पक्ष प्रस्तुत करते है—

"णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।"

इस गाथा में आगत हेतुमत्त्व को आचार्य अमृतचन्द्र ने और अधिक स्पष्ट किया है।[17]

(7) तथ्यपरकता—आ० कुन्दकुन्द के वचन तथ्यों पर आधारित हैं, मात्र भावना के आवेश में निर्गत नहीं होते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि के आस्रव-बंध का अभाव बतलाने के लिए वे कहते हैं—

"णत्थि दु आसव बन्धो, सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे, जाणदि सो ते अबंधंतो।।"[18]

वे कई बार दृष्टान्त द्वारा भी तथ्यों की पुष्टि करते हैं।[19]

ऐसे सप्तगुणसम्पन्न गाथासूत्रों से आ० कुन्दकुन्द ने प्रकरणों का निर्माण किया, प्रकरणों से जीवाजीवाधिकार आदि नौ अधिकार या अध्याय बने और इन नौ अध्यायों का समूह यह परममंगलशास्त्र समयसार है। आ० कुन्दकुन्द के शेष ग्रन्थ तथा उनकी आम्नाय के अन्य समस्त आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ भी इसी परम्परा से 'शास्त्र' संज्ञा को प्राप्त है।

इतना ही नहीं, शास्त्ररचना (ग्रन्थ-निर्माण) के **सात निश्चित नियम** होते हैं, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इनका भी निर्दोष रीति से पालन किया गया हैं उदाहरणस्वरूप समयसार में इन सातों नियमों को घटित करेंगे। ग्रन्थ-निर्माण के सात नियम इस प्रकार हैं— **"उपक्रमोपसंहारोऽभ्यासोऽपूर्वताफलम्।**
अर्थवादोपपत्ती च लिंग तात्पर्य-निर्णये।।"[20]

अर्थ—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति —ये ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के सात आधार एवं ग्रंथरचना शैली के सात अंग माने गये हैं।

इनका परिचय एवं 'समयसार' में इनके प्रयोग का विवरण निम्नानुसार है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1. उपक्रम— ग्रन्थ प्रारम्भ करने को 'उपक्रम' कहते हैं। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पहली ही गाथा में "वोंच्छामि समयपाहुडं" कहकर 'उपक्रम' प्रस्तुत किया है।

2. उपसंहार— ग्रन्थ के समापन की सूचना को 'उपसंहार' कहते हैं। समयसार की अन्तिम गाथा (415) में "जो समयपाहुडमिणं......." वाक्यांश लिखकर आचार्यदेव ने 'उपसंहार' का प्रयोग किया है।

3. अभ्यास— विशिष्ट विषय का महत्त्व ज्ञापित करने एवं स्पष्टीकरण के लिए उसी विषय का प्रकारान्तर से एकाधिक बार प्रतिपादन करना 'अभ्यास' कहलाता है। सामान्यत: न्यायशास्त्र आदि में 'पुनरुक्ति' को दोष माना जाता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्र में पुनरुक्ति को दोषरूप नहीं माना गया है। महान् अध्यात्मवादी आचार्य योगीन्द्रदेव लिखते हैं—

"इत्थु ण लेवउ पंडिएहिं, गुण-दोसु वि पुणरुत्तु।"

इसके व्याख्याकार आ० ब्रहमदेवसूरि स्पष्ट कहते हैं—**"भावनाग्रन्थे समाधि-शतकवत्पुनरूक्तदूषणं नास्ति।"**[21] समयसार के टीकाकार आचार्य जयसेन ने भी अपनी टीका में इस तथ्य का समर्थन किया है।[22] चूँकि समयसार विशुद्ध आत्मभावनाप्रधान ग्रन्थ है, अत: इसमें अनेकों विषयों की प्रकारान्तर से अनेकत्र पुन: प्रस्तुति हुई है। ऐसे विषयों में प्रमुख हैं—ज्ञानी का स्वरूप एवं मान्यता[23], व्यवहार और निश्चय[24], अज्ञानी का मान्यता[25], स्व-पर भेदविज्ञान का स्वरूप एवं प्रक्रिया[26] एवं मोक्षमार्ग का निरूपण[27] आदि। एक विषय कर्ता-कर्म-सम्बन्धी विवेचन आचार्य कुन्दकुन्द को इतना अधिक प्रिय लगा, कि ग्रंथ के मूल वर्ण्य-विषय नौ पदार्थ[28] में समाहित न होते हुए भी उन्होंने पहिले 'कर्ता-कर्म अधिकार' की रचना कर उसका निरूपण किया तथा फिर भी मन नहीं भरा तो ग्रंथ के अन्त में 'सर्वविशुद्धिज्ञान अधिकार' नामक एक और अधिकार लिखा; जिसमें कि मुख्यत: कर्ता-कर्म-सम्बन्धी मान्यताओं की ही समीक्षा की गयी है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि **कुन्दकुन्द-साहित्य में विषय के बारे में स्थूलदृष्टि से ही पुनरुक्ति है, शैली, भाषा एवं प्रसंग के अनुसार पुनरुक्ति नहीं है।**

4. अपूर्वता—शैलीगत नवीनता को 'अपूर्वता' कहा जाता है। आ० कुन्दकुन्द के साहित्य में जिस शैली का प्रयोग हुआ है, उनके निकट पूर्ववर्ती ग्रन्थों में वह शैली नहीं है। उनकी शैली का ही यह प्रभाव है कि कुन्दकुन्द आज भी युगप्रमुख आचार्य हैं, सम्पूर्ण आचार्य एवं विद्वत् परम्परा अपने को 'कुन्दकुन्द के आम्नायानुसार' कहलाने में गौरव का अनुभव करती है। तथा 'समयसार' आज भी कुन्दकुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
साहित्य का प्रतिनिधि परिचायक ग्रन्थ बना हुआ है।

समयसार में शैलीगत नवीनता के साथ-साथ 'अध्यवसान के नामान्तरों'[29] 'विषकुम्भ-अमृतकुम्भ'[30], सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु हैं,[31] प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना[32] तथा ज्ञान ही दीक्षा आदि है[33] —इत्यादि विशिष्ट प्रयोग प्रतीत होते हैं।

5. फल—ग्रन्थ के परिणाम को 'फल' कहते हैं। सामान्यत: धर्मग्रन्थों में 'मोक्ष' को ही मुख्यरूप से 'फल' माना गया है। **"फलं प्रकीर्तितं प्राज्ञैर्मुख्यं मोक्षैकलक्षणम्।"**[34] समयसार ग्रन्थ के अन्त में आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ का 'फल' प्ररूपित करते हुए कहा है कि "जो कोई भी भव्य जीव इस 'समयप्राभृत' नामक ग्रन्थ को अर्थ एवं तत्त्व को जानने के लिए पढ़कर अर्थ (शुद्धात्मपदार्थ) में ठहरेगा, वह उत्तम सुखरूप हो जायेगा।"[35] —इस प्रकार उन्होंने इस ग्रन्थ का फल 'उत्तम (अनंत) सुख की प्राप्ति होना' बताया है।

6. अर्थवाद—ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर हितकारी तथ्यों की प्रशंसा करना 'अर्थवाद' कहलाता है। समयसार में प्रारंभ में ही 'समय' की प्रशंसा की है— **"एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।"**[36] इसी प्रकार अन्यत्र 'ज्ञान से सुख की प्राप्ति' का प्रशंसात्मक वर्णन किया है—

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं।। 206।।

इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक स्थलों[37] पर हितकारी विषयों की प्रशंसा समयसार में की गयी है।

7. उपपत्ति—बाधक प्रमाणों का निराकरण और साधक प्रमाणों का युक्ति एवं तर्क द्वारा मण्डन करना, स्थान-स्थान पर युक्ति एवं हेतु देना— 'उपपत्ति' कहलाता है। यद्यपि तर्क, हेतु आदि न्यायशास्त्र के अंग हैं, तथापि द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य में न्यायशास्त्र की पद्धति प्रमुख होने से वहाँ न्यायशास्त्रीय अंगों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक है। इस बारे में पंडितप्रवर टोडरमल जी के विचार द्रष्टव्य हैं—"यहाँ (द्रव्यानुयोग में)...... जीवादीतत्त्वों का विशेष युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं। द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है।"[38] आ० कुन्दकुन्द ने तो हेतुपरक कथनशैली का भरपूर प्रयोग समयसार में किया है। 'जम्हा-तम्हा', 'जेण-कारणेण-तेण-कारणेण' एवं हेदुणा-हेदूहिं —इत्यादि शब्दों से अनेक स्थलों[39] पर हेतुपरक शैली का स्पष्ट संकेत दिया है, तो कई जगहों पर[40] हेतुपरक शब्दों का प्रयोग किये बिना ही हेतुपूर्वक साध्य की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धि बतायी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का अवलोकन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य न्यायशास्त्र के निष्णात विद्वान् थे एवं उन्होंने अध्यात्मतत्त्व के प्रतिपादन में न्यायशैली का भरपूर उपयोग किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट रूप से संकेतित होता है कि जहाँ विषय एवं साधना-दोनों की दृष्टि से कुन्दकुन्द उत्कृष्टतम कोटि के आध्यात्मिक साधक व्यक्तित्व थे, वहीं शास्त्ररचना के समस्त अंगोपांगों का निर्दोष रीति से पालन होने से उनके साहित्यशास्त्रीय वैदुष्य एवं अगाध दार्शनिक प्रज्ञा के साक्षात् दर्शन होते हैं। उनके मात्र एक ही पक्ष को स्वीकार करना कुन्दकुन्द जैसे महान् समर्थ आचार्य के व्यक्तित्व को एकांगी बनाने की चेष्टा होगी।

यह लेख प्रस्तुत क्षेत्र में तथ्यात्मक संकेतमात्र प्रस्तुत करता है। उपलब्ध सामग्री इस विषय को लेकर पूर्णस्तरीय शोधकार्य की अपेक्षा रखती है।

सन्दर्भ सूची—

1. "कहैं सीख गुरु करुणाधार" —'छहढाला', दौलतराम जी।
2. "स्व-पर हितमागि" —'स्वरूपसम्बोधनपंचविंशति' की कन्नड़ टीका, महासेन पंडितदेव।
3. 'श्लोकवार्तिक' 1, पृ० 19।
4. 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय', 226।
5. पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते।
   वाक्येषु पदमेकञ्च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते।।" —*'वाक्यपदीयम्', 1/71।*
6. 'जयधवला', 1/71, पृ० 82।
7. "अष्टाक्षरादिसंख्यया निष्पन्नोऽक्षरसमूहः प्रमाणपदम्" —गो०जीव०, गाथा 336 की टीका।
8. 'जयधवला' 1/68, पृ० 142।
9. 'समयसार', गाथा 1 की उत्थानिका।
10. 'भगवती आराधना', गा० 112 की टीका, पृ० 144।
11. वृहत्कल्पसूत्र, पृ० 84।
12. क्रमशः 'समयसार' गाथा 32, 33 एवं 36 में।
13. 'समयसार', गाथा 12।
14. वही, गाथा 16।
15. द्रष्टव्य, 'समयसार', गा० 69-70।
16. वही, गाथा 5। तथा गाथा 44 की टीका में भी अमृतचन्द्र ने कुन्दकुन्द के वचन 'केवलिजिणेहि भणिया' को 'स्वानुभवगर्भितायुक्तिः' कहा है।
17. वही, गाथा 72 व 'आत्मख्याति' टीका। तथा गा० 99 भी द्रष्टव्य।
18. वही, गा० 116।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

19. द्र० गा० 17-18, 30, 58-59, 106, 107, 130-131, 146, 291, 320 इत्यादि ।
20. वेदान्तसार' में इन्हें इस प्रकार कहा गया है— "उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वता-फलार्थ-वादोपपत्त्याख्यानि सप्तांग।" —वेदान्तसार, खंड, पृ० 160 ।
21. 'परमात्मप्रकाश', 2/211, एवं उसकी टीका, पृ० 312 ।
22. 'समयसार' गाथा 73 की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका।
23. द्र० गाथा क्र० 35, 74-78, 93, 101, 128, 151, 169, 195-198, 207-216, 218, 224-227, 247, 250, 253, 280, 316-320 इत्यादि ।
24. द्र० गाथा क्र० 7, 11, 12, 27-29, 46-48, 56, 58-60, 83-85, 272, 276-277, 414 आदि ।
25. द्र० गाथा क्र० 19-22, 39-43, 69, 94, 102, 129, 152, 153, 219 एवं 28 ।
26. द्र० गाथा क्र० 38, 181-185, 293-295, 390-402 इत्यादि ।
27. द्र० गाथा क्र० 16, 18, 408-412 इत्यादि ।
28. द्र० समयसार गाथा क्र० 13 ।
29. द्र० गाथा क्र० 271 ।
30. द्र० गाथा क्र० 306-307 ।
31. द्र० गाथा क्र० 193 ।
32. द्र० गाथा क्र० 383-385 ।
33. द्र० गाथा क्र० 404-405 ।
34. "विचारचन्द्रोदय', 15 ।
35. 'समयसार', गाथा 415 ।
36. वही, गाथा 3 ।
37. द्र० गाथा क्र० 15, 31-33, 73, 184, 189, 204, 218, 236, 272, 305, 318-320 इत्यादि ।
38. 'मोक्षमार्ग प्रकाशक', अध्याय 8, पृ० 284 एवं 287 ।
39. विशेष द्र० 'समयसार' गाथा क्र० 4, 8, 11, 34, 57, 62, 63, 74, 86, 99, 103, 104, 112, 127, 145, 147, 150, 154, 168, 170, 208 एवं 335 आदि ।
40. द्र० गाथा क्र० 17-19, 26-27, 30, 35, 116-120, 137-138, 210-213, 257-259, 325-331, 345-346, 371-372, 390-402 इत्यादि ।

**

"कलिप्रावृषि मिथ्यादृङ्-मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह ।
खद्योतवत् सुदेष्टारो हा ! द्योतन्ते क्वचित्-क्वचित् । ।"[37]

अर्थात् इस कलिकालरूपी वर्षा ऋतु में जब दिशायें मिथ्यावादियोंरूपी काली घटाओं से आच्छन्न (व्याप्त) हैं, ऐसी स्थिति में सच्ची बात को बताने वाले आत्महित के उपदेशक जुगनू की तरह ही कहीं-कहीं प्रकाशित होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गूढ़वाद और गूढ़वादी

–मुनिश्री कनकोज्ज्वलनन्दि

भारतीय परम्परा में साधना की पद्धति (विशेषत: आत्मसाधना की) अत्यन्त गूढ़ एवं गम्भीर मानी गयी है। उसे सार्वजनिक प्रदर्शन की वस्तु नहीं माना गया। अत: प्राय: साधक एकान्त में, जन-कोलाहल एवं हस्तक्षेप से दूर जाकर आत्मसाधना किया करते थे। ऐसे साधकों को 'गूढ़वादी' एवं उनके आचार-विचार को 'गूढ़वाद' की संज्ञा दी गयी है।

'गूढ़' शब्द का अर्थ है 'ढके हुए, लोगों के दृष्टिपथ से दूर'।[1] साधक पुरुष अपना हित करना चाहता है, अत: वह लोगों से दूर रहता है। अन्यथा वह जनसंकुल क्षेत्र में कोलाहल में चंचलचित्त वाला होकर अपने लक्ष्य को भूल सकता है, अपने पथ से च्युत हो सकता है; उसके ध्यान-साधना आदि संभव ही नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि–**"गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरित चरेत्"** अर्थात् गूढ़ धर्म का पालन करता हुआ विद्वान् साधक दूसरों से अज्ञातचरित रहे; ऐसा आचरण करे, जिसके कारण बहुत जनप्रसिद्धि न हो; अन्यथा जनसमुदाय उसे चैन से नहीं बैठने देगा।

निर्ग्रन्थ जैनश्रमण की चर्या तो अत्यन्त गूढ़ होती है, अत: वे सर्वदा जनसंकीर्ण क्षेत्र से दूर रहकर ही आत्मसाधना करते हैं। उनके बाह्य क्रियाकलाप भी अत्यन्त सूक्ष्मप्रज्ञा-प्रयोगों से समन्वित होते हैं, उनकी वास्तविकता एवं महत्ता लोगों को आसानी से समझ में नहीं आ पाती है; अत: उन्हें भी वे गूढ़ प्रदेश में ही सम्पन्न करते है।[2] अन्तरंग एवं बहिरंग-दोनों साधनाओं के गूढ़साधक होने से जैनश्रमणों को 'गूढ़' या 'अवगूढ़' संज्ञा दी गयी है–

"रिसि-मुणि-जदि-अणगारावगूढाणं।"[3]

गूढ़ तत्त्वों को समझकर उनकी गुप्तरीति से परस्पर रक्षा करने के कारण ही यतियों को 'उवगूढ़'[4] संज्ञा प्राप्त हुई। श्रमण संस्कृति के पुरोधा आदिब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव गूढ़वाद के पुरस्कर्त्ता थे। उनके लिए पंचाध्यायीकार ने लिखा है–**"एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:।"**[5] 'वह एक ही देव (वृषभदेव) समस्त प्राणियों के लिए जगत् में गूढ़ हो गये हैं।' चूंकि उनकी सम्पूर्ण साधना पद्धति ही गूढ़ थी, अत: वे गूढ़वादी कहलाये। गूढ़वादी ऋषभदेव की साधना पद्धति के बारे में कवि अर्हद्दास लिखते हैं–
"निगूढाद्वारं किंचिदन्तर्जल्पाकार तथा निगूढनिर्झरमुखरकन्दरो धराधर इव।"[6]

अर्थ– वे महायोगी ऋषभदेव अक्षरों को निगूढकर भीतर ही भीतर (गूढ़-गुप्त)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कुछ अन्तर्जल्प उच्चारण करने से उस पर्वत के समान प्रतीत होते थे, जिसकी गुफा किसी गूढ़-गुप्त झरने से कलकल शब्दायमान हो रही हो।'

'अ-हम्' आत्मावाची शब्द है। आत्मा की निगूढ सर्वज्ञता इसमें आगत वर्णमाला के आद्यन्त अक्षरों के योग से सूचित है। अत: आत्मा की जो यह अन्तरचेतना शक्ति है, उसका जो अन्तर्जल्प-शब्द का झरना है; वही भावमन-ज्ञानचेतना को जगाने का साधन है। इस बारे में कुरलकाव्य के रचयिता के विचार द्रष्टव्य हैं–

"भाषी वचन अमोघ के, जो है महिमा लिद्ध।
गूढ़ मंत्र उनके क़हे, जग में करे प्रसिद्ध।।"[7]

'पाण्डवपुराण' में इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि–

"गूढार्था सद्गुणा रम्या।"[8] अर्थात् इन गूढ़ साधकों के स्वर, साधना पद्धति एवं अन्य समस्त क्रियायें गूढ़ार्थक, सद्गुणोपेत एवं चित्त को रमाने-एकाग्र करने वाली होती थीं। इन्हें गूढ़ ब्रह्मतत्त्व (आत्मतत्त्व) के साधक होने से 'गूढ़ब्रह्मचारी' भी कहा गया है– **"गूढ़ब्रह्मचारिण: कुमारश्रमणा:।"**[9]

वस्तुत: सम्पूर्ण लोक में सर्वाधिक गूढ़ तत्त्व आत्मा ही है, कहा भी है–

"यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्च इक्षौ रसो यथा" अर्थात् जैसे दूध में घी गूढ़ है, इक्षु (गन्ने) में मधुररस गूढ़ है; उसी प्रकार इस तन में आत्मा गूढ़ है। साधक ही उसे जान पाते हैं, उसका अनुभव कर पाते हैं; अत: उन आत्मसाधकों को 'गूढ़वादी' या 'गूढ़साधक' संज्ञा भी दी जाती है। इस गूढ़तत्त्व का निर्णय कराने वाले मर्यादित वाक्य को 'सूत्र'[10] संज्ञा दी गयी है।

इस गूढ़ तत्त्व के आराधक श्रमणों को 'गूढ़वादी' कहा गया है। जैनश्रमण परम्परा के प्रात: स्मरणीय महापुरुष आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य योगीन्द्रदेव[11] आदि सभी महान् गूढ़वादी थे। श्रमण परम्परा में तो परमात्मा को भी गूढ़ात्मा कहा गया है–"गूढात्मा गूढ़गोचर:।"[12] परमात्मा की प्रतिमा की प्रतिष्ठा-विधि करते समय जो मूल क्रियायें होती हैं, वे भी गूढ़ होती है। प्रतिष्ठा विधान में कहा गया है–**"संस्कारवादी कृतगूढमध्या।"**[13] यहाँ तक कि जिनेन्द्र परमात्मा की प्रतिमा को भी 'अतिगूढ़तनु' संज्ञा दी गयी है– "या गाढभक्तिरतिगूढतनु:।"[14]

परमात्मपद के आराधक साधक के लिए भी गूढ़निवास करने की प्रेरणा आगम ग्रन्थों में दी गयी है–"लीढ्वा गूढ़निवातवेश्मनि शय्यातले संवसन्।"[15] अर्थात् जनसमूह के आवागमन से दूर (गूढ़) तथा तीव्र वायुप्रकोप आदि से रहित स्थान को प्राप्त कर सुखासन से ध्यान करना चाहिए। ऐसे साधक को 'दूरगूढ़'[16] भी कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गूढ़ तत्त्व की आराधना में जपसाधना करने वाले साधक 'उपांशुजप' करते हैं। इस जप में जिह्वा का कम्पन तो होता है, किन्तु शब्द का घोष नहीं होता है; अत: इस जप को 'निगूढाक्षर' भी कहा गया है।

इस प्रकार साधक एवं साध्य दोनों 'गूढ़' होने से आत्मसाधक 'गूढ़वादी' कहलाये तथा उनकी साधना पद्धति 'गूढ़वाद' कहलायी।

सन्दर्भ सूची–

1. "गूढे – संवृत्ते जनानामचक्षुर्विषये" –*'मूलाचार' टीका 15*। एवं "गूढ: प्रच्छादित:"–*रत्न श्राव० 28*।
2. "पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिदे परोपरोहेण।"
   उच्चारादिच्चागो·पदिट्ठासमिदि हवे तस्स।।"–*आ० कुन्दकुन्द, 'नियमसार', गाथा 65*।
3. आ० कुन्दकुन्द, शांतिभक्ति अञ्चलिका।
4. पाइयसद्दमहण्णव, पृ० !74।
5. पंचाध्यायी, 2/605।
6. पुरुदेवचम्पू, 8/1, पृ० 280।
7. कुरलकाव्य, 28। तथा विशेष द्र० अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग 3, पृ० 182।
8. पाण्डव पुराण, 2/209।
9. चारित्रसार, 42। "कुमारश्रमणादिभि:'' – पा० 10/1/70।
10. "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत्गूढ़निर्णयम्'' –जयधवला, प्रस्तावना।
11. द्र० 'परमात्मप्रकाश', पृष्ठ 112।
12. जिनसहस्रनाम, 9/6।
13. प्रतिष्ठाविधान, 247 पृ० 58।
14. प्रतिष्ठा तिलक, 9/7, पृ० 450।
15. कल्याणपरक, 25/29।
16. आचारसार, 1/26।

**

कविवर पं० दौलतराम एवं उनकी छहढाला

"न द्वादशाङ्गं विरुणद्धि दौलत–रामेण सम्यक् 'छहढाल' भावितम्।
घटस्थितं वारिनिधेर्जलं मनाङ् न जातु सामुद्रजलाद् विभिद्यते।।"

अर्थ–महाकवि पं० दौलतराम जी ने जो इस 'छहढाला' नामक ग्रन्थ की रचना की है, वह द्वादशाङ्गी जिनवाणी का ही एक अंश समझना चाहिए। क्योंकि घड़े में भरा हुआ समुद्र का जल समुद्र में स्थित जल से कदापि स्वरूपत: भिन्न नहीं होता है। इसी प्रकार 'छहढाला' भी द्वादशाङ्गी जिनवाणी का ही लघु-घटस्थित स्वरूप होने से इसमें व द्वादशांगी जिनवाणी में कोई भेद नहीं मानना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"तिथि निर्णय के लिए सांवत्सरिक क्षपणक मत ही मान्य है"

—पं० जयकुमार उपाध्ये

कभी-कभी तिथियों के सम्बन्ध में जैन पंचांगों एवं अन्य भारतीय पंचांगों में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। उसका कारण जैन परम्परा व अन्य परम्पराओं में तिथि के निर्णय का आधार अलग-अलग होना है। **जैन परम्परा के अनुसार सूर्योदय के पश्चात् छह घटी[1] अर्थात् दो घंटे चौबीस मिनिट तक यदि वह तिथि रहती है, तो उस दिन वही तिथि मानी जायेगी।** जबकि अन्य मान्यताओं में किसी के मतानुसार सूर्योदय के पश्चात् दस घटी (चार घंटे) तक और अन्य मान्यतानुसार बीस घटी (आठ घंटे) तक यदि वह तिथि रहे, तभी उस दिन वह तिथि मानी जा सकती है।

जैन संघ में तिथि-निर्णय, मुहूर्त-निर्णय एवं निमित्त-ज्ञान आदि के भी विशेषज्ञ आचार्य/साधु अवश्य होते थे, उन्हें 'सांवत्सरिक क्षपणक' कहा जाता था। अत: जैन आम्नाय में तिथि का निर्णय करने के लिए 'सांवत्सरिक क्षपणक' का मत (रसघटी[2] सिद्धान्त) ही मान्य है, अन्य मतों की जैन परम्परा में मान्यता नहीं दी गयी है। इस सम्बन्ध में आचार्य सिंहनन्दि के विचार द्रष्टव्य हैं—

"अतस्तद्वयं निर्मलसयं बहुभि: कुलाद्रिमतमादृतमित्यत अनवच्छिन्नं पारम्पर्यात् तदुपदेशकबहुसूरिवाक्यञ्च सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात् रसघटीमतं श्रेष्ठमन्यत्कल्पनोपेतं मतं सेन-नन्दि-देवा उपेक्षन्तेऽनाद्रियन्तेऽत: कुन्दकुन्दाद्युपदेशात् रसघटिका ग्राह्या कार्या इत्यर्थ:।[3]

अर्थ—इस जैनमत के द्वारा समर्थित निर्दोष-परम्परा से प्राप्त तथा इस निर्दोष-परम्परा के उपदेशक आचार्यों के वचनों से एवं सभी मनुष्यों में प्रसिद्ध होने से 'रसघटीमत' अर्थात् छह घटीमान तिथि का प्रमाण माना गया है। अन्य (जैनेतरों में) जो (दस या बीस घटीमान) तिथि का प्रमाण कहा जाता है; वह कल्पनामात्र है, सभीचीन नहीं है। इसलिए उसकी सेनागण, नन्दिगण और देवगण के आचार्य उपेक्षा करते हैं, अमान्य ठहराते हैं। अतएव कुन्दकुन्दादि आचार्यों के उपदेशानुसार अन्य सभी मतों की अपेक्षा 'रसघटिका' (छह घटी प्रमाण) तिथिमान ही ग्राह्य है। इसी प्रकार सांवत्सरिक क्षपणक मत में तीन सौ छियासठ (366) दिन का ही एक संवत्सर (वर्ष) माना गया है, 365 का नहीं—
"इच्छामि भंते ! संवच्छरियं आलोचेदुं बारसण्हं मासाणं, तिण्हं छावट्ठि सददिवसाणं।[4]

1. एक घटी = 20 मिनिट।
2. रस छह होते हैं, अत: रसघटी अर्थात् छह घटी।
3. व्रततिथिनिर्णय, 6, पृ० 72।
4. प्रतिक्रमणसूत्र, पृ० 234।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्धमागधी भाषा में सम्बोधन का एक विस्मृत शब्द–प्रयोग 'आउसन्ते'

—के० आर० चन्द्र

आचार्यश्री हेमचन्द्र अपने प्राकृत व्याकरण में शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत समझाते हैं– **'ण नन्वर्थे', 8/4/283 (ननु=णं)। 'शेषं शौरसेनीवत्'** के अनुसार मागधी प्राकृत के लिए भी यही नियम लागू होता है (8/4/302)। वे पुन: कहते हैं– **'आर्षे वाक्यालंकारेऽपि दृश्यते', उदाहरण–'नमोत्थु णं'। उत्तराध्ययन** (29-1105 आदि, आदि सूत्रों में भी) में एक प्रयोग है–**'धम्मसद्धाए णं भन्ते'** इस उदाहरण में 'णं' और 'भन्ते' दोनों शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक सूत्र जैसे प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत ग्रंथों में सम्बोधन के लिए 'आयुष्मत्' शब्द के जो प्राकृत प्रयोग मिलते हैं, उनमें 'ण' को विभक्ति प्रत्यय का अंश माना जाय या उसे एक अव्यय के रूप में लिया जाय —यही इस लेख की चर्चा एवं अन्वेषण का विषय है।

ग्रंथों में वाक्यरचना इस प्रकार है– (म० जै० वि० संस्करण)

(i) **'सुयं में आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं'**

(आचा० 2/635, सूत्रकृ० 2/638/694/722/747)

(ii) **'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं'**

(आचा० 1/1/1/1, उत्तरा० 2/49, 16/511, 29/1101, दशवै० 4/32, 9/4/507)

यहाँ पर ध्यान में रखने का जो विशेष मुद्दा है वह यह कि 'आउसं' के साथ तेणं' का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर 'आउसं' एवं तेणं' अलग-अलग हैं तो कहीं-कहीं पर दोनों एक ही शब्द के रूप में प्रयुक्त हैं। इन दोनों प्रकार के प्रयोगों के अर्थ की चर्चा आगे की जाएगी।

वैसे आगम ग्रन्थों में 'आयुष्मन्' शब्द के लिए सम्बोधन के तीन रूप मिलते हैं–आउसो, आउसन्तो और आउसं। 'आउसं' के साथ तेणं' का प्रयोग मिलता है, जबकि अन्य दो रूप अकेले ही प्रयुक्त हुए हैं।

'आउसो' और 'आउसन्तो' शब्द एकवचन या बहुवचन (सम्मानार्थे भी) दोनों के लिए समान रूप में प्रयुक्त हुए हैं; चाहे वह गृहपति, भिक्षु, भ० महावीर, अन्य तीर्थिक, गणधर, निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी हों।

ऐसे प्रयोगों के उदाहरण जिनमें 'आउसो' या 'आउसन्तों' में वचन-भेद नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
किया गया है:–

आचारांग के प्रयोग (म० जै० वि० संस्करण)

'आउसो' भिक्षु द्वारा गृहपति के लिए या कम्मंकरी के लिए सूत्र नं० 360, 368, 392। **'आउसंतो गाहावती'** भिक्षु द्वारा गृहपति के लिए सूत्र नं० 445, 482, 486। **'आउसंतो समणा'** गृहपति द्वारा भिक्षु के लिए सूत्र नं० 204, 477-481। **'आउसंतो'** एक भिक्षु द्वारा दूसरे भिक्षु के लिए सूत्र नं० 399, 502। **सूत्रकृतांग** के प्रयोग (म० जै० वि० संस्करण)– **'आउसो'** सामान्य व्यक्ति द्वारा सामान्य व्यक्ति के लिए, सूत्र नं० 650 महिलाओं द्वारा भिक्षु के लिए, सूत्र नं० 118, 207। **'समणाउसो'** भगवान महावीर द्वारा निर्ग्रन्थ ओर निर्ग्रन्थियों के लिए सूत्र नं० 644 निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के द्वारा भगवान महावीर के लिए सूत्र नं० 644। **'आउसो'** गणधर गौतम द्वारा उदक पेढालपुत्र के लिए सूत्र नं० 845, 847 उदक पेढालपुत्र द्वारा गणधर गौतम के लिए सूत्र नं० 845, 846। **'आउसंतो'** उदक पेढालपुत्र द्वारा गणधर गौतम के लिए सूत्र नं० 845-849 गणधर गौतम द्वारा उदक पेढालपुत्र के लिए सूत्र नं० 848, 852 भगवान महावीर द्वारा उदक पेढालपुत्र के लिए सूत्र नं० 867, 899 भगवान महावीर द्वारा निर्ग्रन्थों के लिए, सूत्र नं० 855।

पालि शब्दकोश के अनुसार पालि भाषा में भी 'आवुसो' (प्राकृत-आउसो) और 'आयुस्मन्त' के प्रयोग वचन-भेदरहित हैं। 'आयुस्मन्तो' (प्राकृत-आउसंतो) बहुवचन है और उसी का 'आवुसो' संकीर्ण रूप है। ये सामान्यत: भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त सम्बोधन के शब्द हैं (vide - Pali-English Dictionary by T.W. Rhys Davids) परन्तु अर्धमागधी भाषा में भिक्षु या गृहस्थ दोनों के लिए ये शब्द समान रूप में प्रयुक्त हैं।

अब हस्तप्रतियों में मिल रहे पाठों को उसी शैली में यहाँ उद्धृत करते हैं और फिर उनका शब्द-विच्छेद करके समझने की कोशिश करते हैं कि अर्द्धमागधी भाषा में सम्बोधन के लिए कौन-सा रूप उपयुक्त होगा।

हस्तप्रतियों के पाठ – **सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं।**
सुतं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं।।

शब्द-विच्छेद:– सुयं (सुतं) मे आउसंतेणं, (आउसं तेणं, आउसंते णं), भगवया (भगवता) एवं अक्खायं (अक्खातं)।

यदि 'आउसं तेणं' पाठ रखते हैं, तो तेणं' शब्द भगवान का विशेषण बन जाता है। अर्थ होगा 'उस भगवान के द्वारा'। सुधर्मास्वामी तो प्रत्यक्ष गणधर थे और उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा प्रत्यक्ष गुरु के लिए ऐसे विशेषण का प्रयोग करना यथार्थ नहीं लगता है।

'आउसंतेणं' एक साथ लेने पर यह शब्द भगवान का विशेषण बनेगा, यह भी उपयुक्त नहीं लगता है।

चूर्णिकार एवं वृत्तिकार 'आउसंतेणं' का अर्थ 'आवसता' करके उसे सुधर्मास्वामी के साथ जोड़कर 'मया आवसता' अर्थात् भगवान की पर्युपासना में रहते हुए मेरे द्वारा ऐसा सुना गया था, मेरे द्वारा पुर्यपासना करते हुए ऐसा सुना गया। सुधर्मास्वामी को 'मया आवसता' ऐसे शब्द के प्रयोग की आवश्यकता हुई हो, यह भी उपयुक्त नहीं ठहरता है।

सारी परम्परा सुज्ञात है कि सुधर्मास्वामी भगवान महावीर के गणधर (शिष्य) थे और उन्होंने ही जम्बूस्वामी को भगवान महावीर के उपदेशों का पाठ मौखिक रूप में हस्तान्तरित किया था। सुधर्मास्वामी ने भगवान से जो कुछ सुना होगा, वह उनके पास रहते हुए ही तो सुना होगा; अन्यथा कैसे सुन सके होंगे। अत: 'आउसंतेणं' = 'मया आवसता' की भी यथार्थता साबित नहीं होती है। भाषिक दृष्टि से भी 'आवस' का 'आउस' रूप योग्य नहीं लगता है। ऐसा लगता है कि विस्मृत प्रयोग को खींचतान करके समझाने के लिए 'आउस' का 'आवस' कर दिया गया है।

तब फिर क्या शब्द-विच्छेद इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि 'आउसंते' और 'णं' दोनों ही अलग-अलग शब्द हैं। 'णं' वाक्यालंकार के लिए और 'आउसन्ते' सम्बोधन के लिए। जैसे 'आउसो' और 'आउसन्तो' शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों के प्रथमा एकवचन के रूप हैं, उसी प्रकार 'आउसन्ते' मागधी प्राकृत का प्रथमा एकवचन का रूप है और ये सब रूप सम्बोधन के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। भगवान की देशना मगध देश में हुई थी, अत: 'आउसन्ते' शब्द की उपुयक्त होना चाहिए था। इस विषय में एक नवीन प्रमाण सूत्रकृतांग की चूर्णि में प्राप्त हो रहा है।

सूत्रकृतांग की चूर्णि में एक जगह सम्बोधन के लिए 'आउसे' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो प्राकृत 'आउसो' का मागधी 'आउसे' रूप है।

सूत्रकृतांग कीं मूल गाथा इस प्रकार है—

उदाहडं तं तु समं मतीए। अहाउसो विप्परियासमेव।। —*(2, 6, 51 म० जै० वि)*

परन्तु चूर्णिपाठ इस प्रकार है – **'अधाउसे विप्परियासमेव'।** चूर्णिकार आगे समझाते हैं **'आउसे' त्ति हे आयुष्मन्त:'** *(सूत्रकृ०, पृ० 232, पा० टि० 4)*।

भाषिक दृष्टि से 'अधाउसे' पाठ प्राचीन है, जो किसी ने किसी तरह चूर्णि में बच गया है। कालान्तर में 'अध' का 'अह' हो गया और 'आउसे' का 'आउसो' कर दिया गया, जो उत्तरवर्ती काल की महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव के कारण हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्, वत् और मत् अन्त वाले शब्द प्राकृत में अन्त, वन्त और मन्त वाले बन जाते हैं। उसी नियम से 'आयुष्मत्' का 'आयुष्मन्त=आउस्सन्त=आउसन्त' हुआ और सम्बोधन की मागधी-अर्धमागधी रूप 'आउसन्ते' बना और उसी का संकुचित रूप 'आउसे' हुआ, जैसा कि पालि भाषा में 'आवुसो' शब्द 'आयुस्मन्तो' का संकीर्ण रूप है।

इस अन्वेषण के आधार पर आचारांग का उपोद्घात का वाक्य इस प्रकार होगा—

"सुतं मे आउसन्ते ! णं भगवता एवमंक्खातं"

अन्य आगम-ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त माना जाना चाहिए। सम्बोधन के लिए जिस प्रकार 'भन्ते' (भदन्त या भगवन्त का) रूप है, उसी प्रकार (आयुष्मन्त का मागधी-अर्धमागधी रूप) 'आउसन्ते' रूप भी उपयुक्त है।*

---

* 'प्राचीन अर्धमागधी की खोज में' नामक मेरी पुस्तक में 'आउसन्तेण' रूप उपयुक्त है, ऐसा समझाया गया है, परन्तु यह नवीन प्रमाण मिल जाने से 'आउसे' और 'आउसन्ते' प्रयोग ही भाषिक दृष्टि से अर्धमागधी के लिए सर्वथा उपयुक्त है; जिनके कारण अर्थ-सम्बन्धी कोई बाधा नहीं रहती है और न ही कोई कल्पना करने की आवश्यकता रहती है।

**

आउस्संतो प्रयोग: शौरसेनी प्राकृत में

शौरसेनी प्राकृत में रचित 'प्रतिक्रमणदण्डक' अति प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें एक विशिष्ट शब्द प्रयोग मिलता है—आउस्संतो। इसके पूरा मूलपाठ निम्नानुसार है—

"सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदो महदि महावीरेण महाकस्सवेण सव्वंण्हुणा सव्वलोगदरिसिणा सदेवासुरमाणुसस्स लोयस्स आगदि-गदि-चवणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणोमाणसियं भूदं कयं पडिसेविदं आदिकम्मं अरुहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वंसमं जाणंता पस्संता विहर-माणेण समणाणं पंचमहव्वदाणि राईभोयणविरमणछट्ठाणि सभावणाणि समाउगपदाणि सउत्तरपदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि।।" *(दशभक्त्यादिसंग्रह, पृ० 275)*

यहाँ प्रयुक्त 'आउस्संतो' पद 'आयुष्मान्' का प्राकृतरूप ज्ञात होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शौरसेनी प्राकृत के प्रतिक्रमणदण्डक में आगत 'आउस्संतो' पद प्राय: समान पद (गरिमा) वालों तथा शिष्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह एक सम्बोधनपरक प्रयोग है। —सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूरसेनी प्राकृत और ब्रजभाषा

—वीरसागर जैन

सूर (क्षत्रिय वाचक है) अशोक, खारबेल, तीर्थंकर अरिष्टनेमि, भगवान् महावीर तथा तथागत बुद्ध सब क्षत्रिय थे। अन्तःपुर के रानिओं से लेकर झोपड़िओं तक प्राकृत-भारती के पदचिन्ह आज भी अंकित मिलते हैं।

भाषा का जन्म बोली से होता है, किसी अन्य भाषा से नहीं, —ऐसा भाषा-विज्ञान का नियम है। ब्रज प्रदेश में जो बोली प्रचलित थी, उसी आधार पर ब्रज भाषा बनी। कुछ विद्वानों का कथन है कि सूरसेनी प्राकृत या शौरसेनी (अवहट्ट) अपभ्रंट से ब्रजभाषा का जन्म हुआ, गलत है। हाँ, आगे चलकर, उस पर इन दोनों का सर्वाधिक प्रभाव है।

"कोमलकान्त पदावली" ब्रजभाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अर्थात् उसमें कोमलता है और कमनीयता भी। यही उसके सार्वभौम होने का कारण है। प्रश्न है कि यह गुण उसे मिला कहाँ से? उत्तर है कि उस मिट्टी से, जिसके कण-कण में कृष्ण का आकर्षण और गोपियों की कोमलता भिदी हुई थी। दूसरे, उसे यह गुण सूरसेनी प्राकृत-अपभ्रंश से प्राप्त हुआ; जो इसी गुण के कारण भारतव्यापी हो उठी थी। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक शौरसेनी का साम्राज्य था। चाहे महाराष्ट्री हो या पैशाची अथवा अर्द्धमागधी, सभी शौरसेनी से प्रभावित थे। यहाँ तक कि पूरब से सम्राट् खारबेल के शिलालेख की भाषा पर भी शौरसेनी का प्रभाव था।

डॉ० चाटुर्ज्या ने शौरसेनी की दक्षिणयात्रा को रोचक ढंग से समुपस्थित किया है। उनका यह भी कथन है कि प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्र वाली सूरसेन प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्च-मध्य युगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाये, तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा विगत काल की प्रतिस्पर्धिनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।[1]

शौरसेनी अपभ्रंश ब्रजभाषा की निकटतम भाषा थी। ब्रजभाषा पर 600 ईस्वी से 1000 ईस्वी तक इसका प्रभाव रहा। ज्यों-ज्यों ब्रजभाषा का विकास होता गया, अपभ्रंश शौरसेनी जनभाषा के पद से अलग होती गई। वैसे, ब्रजभाषा को शौरसेनी का परवर्ती विकसित रूप माना जाता है। अतः राजपूत राजाओं के दरबारों में ब्रजभाषा को ही राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठा-प्राप्त थी।[2] महोबा के कवि नन्द की जिस कविता ने महमूद गजनवी को सब-से अधिक प्रभावित किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
था, वह ब्रज हिन्दी थी।[3] कुछ विद्वान् इसे शौरसेनी अपभ्रंश मानते है, जो गलत है। डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि "नव्य भाषाओं को बलात् अपभ्रंश की ओर घसीटना, ज्यादती है। याकोबी का यह कथन कि 'अपभ्रंशों का 'ढाँचा' नव्य भाषाओं का और 'रूप-संसार' प्राकृत का था। यह बात प्रमाणित हो सकती है, यदि शौरसेनी अपभ्रंश के मूल ढाँचे को ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से सम्बद्ध करने में सफलता प्राप्त हो सके।''[4]

शौरसेनी अपभ्रंश ब्रजभाषा से सबसे अधिक निकट थी। डॉ० एल०पी० तोस्सितोरी ने आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में दिये उद्धरणों को शौरसेनी अपभ्रंश माना है। शायद वह ग्रियर्सन के सर्वे के आधार पर है। ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को 'नागर अपभ्रंश' की संज्ञा दी है। ग्रियर्सन के अनुसार हेमचन्द्र के व्याकरण की अपभ्रंश 'नागर' थी। यही नागर अपभ्रंश मध्यप्रदेश की भाषा थी। डॉ० भण्ड़ारकर अपभ्रंश भाषा का उद्‌गम और विकास का क्षेत्र मथुरा के आस-पास मानते हैं। उनका यह कथन आधुनिक हिन्दीवालों को अवश्य देखना चाहिए कि छठी-सातवीं शताब्दी के आसपास अपभ्रंश का जन्म उस प्रदेश में हुआ, जहाँ आजकल ब्रजभाषा बोली जाती है।[5] पश्चिमी अपभ्रंश को एक तरह से ब्रजभाषा का पूर्वज कहते हैं। यह अपभ्रंश और कोई नहीं 'शौरसेनी अपभ्रंश' थी, —ऐसा चाटुर्ज्या का स्पष्ट कथन है।

भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी-पृष्ठ 178-179 पर लिखा मिलता है, "गुजरात के जैन आचार्य हेमचन्द्र (1088-1172) के व्याकरण में, पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचलित साहित्य के उदाहरणों से पता चलता है कि उस काल की भाषा हिन्दी के कितना निकट थी।

केशवराम काशीराम शास्त्री हेमचन्द्र के व्याकरण' के तलस्पर्शी अध्येता थे। उनका कथन था कि 'हेमचन्द्र के दोहों की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश न होकर शुद्ध गौर्जर अपभ्रंश थी।'' भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' में लिखा मिलता है, **"अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गौर्जरा।"** वास्तविकता यह है कि वह महाराष्ट्री हो, शौरसेनी अथवा शुद्ध गौर्जर, महत्वपूर्ण नहीं है; अपितु इसमें व्याप्त प्रान्तीय विशेषताएँ ही ध्यान देने योग्य हैं। ब्रजभाषा और गुजराती का निकट का सम्बन्ध था। शास्त्री जी का अभिमत है कि "ब्रजभाषा और गुजराती में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का फैलाव कारण रहा है। उनके मत से वस्तुत: यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। मध्यदेश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस आभीरी अपभ्रंश की जन्मभूमि थी।''[6]

किन्तु शास्त्री जी जिस गौर्जर अपभ्रंश की बात करते हैं, उसका विकास दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। पहले की रचनाएँ चाहे गुजराती हों या बंगाली, उनमें शौरसेनी की प्रधानता मानने से कोई इंकार नहीं कर सकता। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' (सं० 1241) एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस पर गौर्जर अपभ्रंश की स्पष्ट छाप है, शौरसेनी की नहीं।[7]

'जम्बूस्वामी चरित्र' (सं०1210) और 'रेवंतगिरिरास' (1230) की रचनाओं में गुजराती के भाषिक तत्त्व मौजूद हैं। हरिवल्लभ भायाणी का यह कथन सत्य है कि 'हेमचन्द्र गुजरात के रहने वाले थे, किन्तु उनके अपभ्रंश को गौर्जर अपभ्रंश नहीं कहा जा सकता। उन्होंने बोलचाल की भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन करके अपना व्याकरण नहीं लिखा था। उनके व्याकरण में साहित्यिक अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है। आधुनिक भाषाओं का अध्ययन कर व्याकरण लिखने की परम्परा आधुनिक है।''[8]

हैम व्याकरण के अन्त:साक्ष्य से विदित होता है–**अपभ्रंशे प्राय: शौरसेनीवत् कार्यं भंवति 8/4/446**, यहाँ अर्थ स्पष्ट है। वररूचि ने भी प्राकृत (प्रकृष्ट आकृति) का अर्थ 'शौरसेनी' से ही लगाया है। उन्होंने शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की जो कड़ी प्रस्तुत की है, वह हेमचन्द्र के अन्त: साक्ष्यों से अधिक स्पष्ट हो उठी है।[9]

गुलेरी जी ने कुछेक दोहों के बारे में तुलनात्मक विवेचन अपने "पुरानी हिन्दी'' नाम के लेख में किया है। इन दोहों में एक दोहा "मुंज भणिता'' से युक्त मिलता है– **बाहु विछोडवि जाहि तुहं हउं तेवइं को दोष।**

हियट्ठहिं जइ नीसरइ जाणउ मुंज सरोस।।

ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि सूरदास के एक दोहे से इसका मनोरंजक साम्य देखने को मिलता है– **बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानिके मोहि।**

हिरदै से जब जाहुगे तो हों जानौं तोहि।।

डॉ० शिवप्रसाद सिंह का यह कथन कि "जिस मध्यदेश में यह दोहा निर्मित हुआ, उसी का एक पूर्ववर्ती रूप हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में संकलित किया है शौरसेनी प्राकृत का एक उदाहरण देने के लिए। वही अपनी स्वाभाविक परम्परा और जनमानस में निरन्त विकसित होकर सूर के पास पहुँचा-लौकिक श्रृंगार के स्थान पर भक्ति का पीताम्बर डाल कर, किंचित् भिन्न अर्थ में।''[10] मात्र कल्पनाजन्य है। यह दोहा और इसका भाव सूरदास के भक्त हृदय की देन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
दो कवियों की कविताओं में साम्य हो जाना संयोग भी हो सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक ने दूसरे से उधार लिया है। कभी गाथासप्तशती और बिहारी सतसई को लेकर यही बात उठी थी। फिर, पुष्पदंत के महापुराण और सूरसागर के एक पद को लेकर उठे विवाद का डॉ० प्रेमसागर जैन ने खण्डन किया था।

मैं इसे भी केवल अनुमानजन्य मानता हूँ कि 'इस व्याकरण के 60 प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से संकलित किए गये हैं' इसका कोई ठोसा प्रमाण नहीं है।

"सरस्वती कण्ठाभरण" एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता महाराजा भोज संस्कृत-प्राकृत के विद्वान थे। वे वि०सं० 1067 के लगभग राजसिंहासन पर बैठे। सरस्वती कण्ठाभरण के अनेक दोहों की गति ब्रजभाषा की ओर है। एक श्लोक की अन्तिम पंक्ति में 'ऐसे सच्चु जि बोल्लु"[11], 'ऐसे सांचु जु बोलो", के नजदीक है।

डॉ० शिवप्रसाद सिंह का कथन है कि हेम अपभ्रंश (शौरसेनी अपभ्रंश) की सभी स्वर ध्वनियाँ ब्रजभाषा में सुरक्षित हैं। अपभ्रंश 'ऋ' के अ, आ, ए, ई और ओ रूपान्तर होते थे; जो ब्रजभाषा में दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के कुछ वाक्य ऐसे हैं, जो बिल्कुल ब्रजभाषा से मिलते हैं, जैसे—"अंगहि अंग न मिलिए" (अपभ्रंश) ब्रज भाषा में "अंगहि अंग न मिल्यो" हो जाता है। दोनों में समानता स्पष्ट है।

गुजराती और ब्रजभाषा का बहुत पुराना सम्बन्ध है। यह गौर्जर अपभ्रंश की देन है या नहीं, किन्तु पुरानी गुजराती और पुरानी हिन्दी प्राय: एक ही है। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' (सं० 1241) एक ऐसा रास-ग्रन्थ है, जिस पर पुरानी गुजराती का प्रभाव है, तो पुरानी हिन्दी का भी। 'जम्बूस्वामी चरित्र' (सं०1210) 'रेवंतगिरि रास' (सं०1230) में पश्चिमी अपभ्रंश का रूप तो है, किन्तु रंग पुरानी गुजराती और हिन्दी का है।

मध्यदेश के दो मुख्य अंग थे—गुजरात और मथुरा। जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशीय अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का महत्वपूर्ण उपनिवेश माना है।[12] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा हिन्दुस्तानी एकेडमी (इलाहाबाद 1954), पृ० 3 पर लिखा है, "भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का लोकप्रिय उपनिवेश रहा है।"

मध्यदेश का दूसरा भाग मथुरा था। महाभारत 2/13/56 के अनुसार कृष्ण यादवों के साथ मथुरा छोड़कर चले गये थे और द्वारावती बसाकर रहने लगे थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
उत्तर-पश्चिम से आये ये आभीर गुजरात में प्रभावशाली माने जाते थे। इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से प्रभावित किया। इस भांति जो मिश्रित भाषा बनी, वही आगे चलकर राजभाषा के पद पर अधिष्ठित हुई। यह मिली-जुली भाषा 'अपभ्रंश' संज्ञा से अहिहित हुई। रामप्रसाद चन्दा ने "आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया'', संख्या 5 में एक शिलालेख का उल्लेख किया है, जिसमें भक्त अपने स्वामी शोडास के कल्याण की प्रार्थना करता है। यह ईसापूर्व पहली शताब्दी का शिलालेख है। इस पर मिली-जुली भाषा का प्रभाव है। ऐसा ही एक शिलालेख कनिंघम को 'मोरा' नामक स्थान पर मिला था।

यह सत्य है कि मथुरा की जैन संस्कृति का प्रभाव पश्चिमी गुजरात तक फैला हुआ था। यही नहीं जैन आगमों और परवर्ती रचनाओं में कृष्णकाव्य का अत्यन्त प्राचुर्य दिखाई पड़ता है, जिसे मथुरा का प्रभाव मानना अनुचित न होगा। इस प्रकार ब्रजभाषा, जो मथुरा की मुख्य भाषा थी, का प्रभाव भी गुजरात पर कम नहीं पड़ा। गुजराती और ब्रजभाषा की यह समवयस्कता उनकी घनिष्ठ एकमेकता का प्रतीक बनी।

आ० हेमचन्द्र की शौरसेनी प्राकृत को ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु प्रश्न है कि हेमचन्द्र के दोहे आये कहाँ से? इसका उत्तर गुलेरी जी ने अपने "पुरानी हिन्दी'' (पृ० 15-16) नाम के लेख में तुलनात्मक विवेचन के द्वारा उपस्थित किया है। मुंजभणिता में एक दोहा–ऊपर दिया जा चुका है, उसका श्रृंगारपरक तेवर, "बाहु बिछोडवि जाहि तुहुँ'' किस तरह "बाँह छुड़ाये जात हो'' भक्तिपरक रूप में ढल गया।

ऐसा कहना अनुचित होगा कि सूरदास ने हेमचन्द की नकल की। वास्तविकता यह है कि यह दोहा मध्यदेश की रचना है, जो श्रृंगार और कहीं भक्ति में ढलता रहा। दोहे के निर्माणशैली में समानता संयोग की बात हो सकती है। इसी प्रकार 'भुंजभणित' श्लोकों को भी गुलेरी जी ने हिन्दी कहा है। वह अपभ्रंश संज्ञा से अभिहित हो या हिन्दी से, किन्तु यह सत्य है कि वे मध्यदेश के रग-रग में रचे-पचे थे।

"ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उत्तराधिकारिणी और 11वीं शती से 18वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्य भाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विवचारों का प्रबल माध्यम रही है।'' (सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य मू० 139।)

मध्यदेशीय भाषा का नाम बहूत पहले से शौरसेनी था। शूरसेन प्रदेश बाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिए यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी। इस भाषा का प्रभाव सदैव से एक बड़े भूभाग पर रहता आया है। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभावक्षेत्र को और विस्तृत बनाया।

ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है। मिर्ज़ा खां ने ई० सन् 1676 में लिखे "ब्रजभाषा-व्याकरण" में भी ग्वालियर को ब्रजभाषा क्षेत्र में गिना है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रज बोलियों का अध्ययन करने के लिए ग्वालियर से सामग्री एकत्र करवाई थी। यह सच है कि बंगाल की 'ब्रजबुलि' के आधार पर ब्रजभाषा नाम नहीं पड़ा।

ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग 18वीं शताब्दी से पहले होने लगा था। सन् 1644 में लिखी गोपालकृत रसविलास टीका में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ था। वह दोहा है—

मरूभाषा निरजल तजी करि ब्रजभाषा चोज।
अब गुपाल याते लहैं सरस अनूपम भोज।।

डॉ० प्रेमसागर जैन ने अपने ग्रन्थ "हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि" में अनेक कवियों का नाम दिया है, जिन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। ये सभी कवि 14वीं और 16वीं शताब्दी के थे।

शूरसेन प्रदेश का नाम आगे चलकर ब्रजमण्डल कहा जाने लगा। क्यों? —यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस पर किसी विद्वान ने कुछ नहीं लिखा। ब्रज शब्द का अर्थ जाने बिना इसका सार्थक उत्तर संभव नहीं है।* देहरादून के डी०ए०वी० डिग्री कालेज में एक हिन्दी विभागाध्यक्ष थे, उन्हें ब्रजभाषा का निष्णात विद्वान् माना जाता था। उनका कथन था कि "मथुरा से तेरह कोस दूर एक गाँव था। उसमें सभी पढ़े लिखे विद्वान रहते थे। उसके नाम पर ही शूरसेन प्रदेश ब्रज मण्डल और भाषा ब्रजभाषा के नाम से विख्यात हुई।" —यह कथन कहाँ तक ठीक है, अनुसन्धित्सुओं की शोध खोज का विषय है।

पाद टिप्पण

1. आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० 177।
2. ओरिजिन एण्ड डवलपमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० 113।
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भाग 3, पृ० 2।
4. प्रो० हेमचन्द्रराय, भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ, मैसूर, 1935।
5. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० 43।
6. आपना कविओ, खण्ड 1, पृ० 36-40।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

7. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० 45।
8. वाग्व्यापार, भारतीय विद्या भवन, 1954, पृ० 160।
9. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० 266।
10. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० 46।
11. सरस्वती कण्ठाभरण, 1/158।
12. आनन्द मोडर्न इण्ड़ो आर्यन वर्नाक्यूलर्स, 12।

—व्याख्याता, जैनदर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली-110016

**

उपवास कैंसर को रोकता है

उपवास से कैंसर को रोका जा सकता है। हैदराबाद में 'सेंटर फार सेलुलर एंड मोलकुलर बायोलॉजी' के अध्ययन दल के अध्यक्ष डॉ० पी०डी० गुप्ता ने बताया कि उपवास से शरीर में ऐसी शक्ति पैदा की जा सकती है, जो कैंसर फैलाने वाली कोशिकाओं की वृद्धि और उसके विभाजन को रोकने में सहायक हो सकती है।

डॉ० गुप्ता के अनुसार कैंसर फैलने का कारण कैंसर युक्त कोशिकाओं में तेजी से होने वाला विभाजन है। उन्होंने बताया कि अध्ययन के दौरान यह देखा गया कि उपवास वाले चूहों की आंत, गुहागृह की कोशिकाओं में या तो विभाजन बिल्कुल बंद हो गया या उनकी गति बहुत धीमी हो गयी।

डॉ० गुप्ता ने आस्ट्रिया के एक वैज्ञानिक ग्रासी काडप द्वारा किये गये अध्ययन का भी उल्लेख किया। उस वैज्ञानिक ने भी बताया था कि उपवास या कम कैलोरी वाला भोजन लेने से कैंसर फैलाने वाली कोशिकाओं का विभाजन या तो रुक जाता है या उसकी गति कम हो जाती है।

डॉ० गुप्ता ने कहा कि यह सर्वविदित तथ्य है कि हर व्यक्ति के शरीर में कैंसर कोशिकायें मौजूद होती हैं; अनुकूल स्थितियाँ पाकर ये तेजी से विकसित होकर फैलतीं हैं और शीघ्र ही कैंसर वाली गाँठ का रूप ले लेती हैं।

अपने अध्ययन के सन्दर्भ में डॉ० गुप्ता ने यह स्पष्ट कि कि उपवास कैंसर से बचाव कर सकता है, लेकिन यह कैंसर का इलाज नहीं है। उन्होंने कहा कि भारत में ऐसा वर्ग है, जो उपवास की अवधि के दौरान अधिक मात्रा में फल और सब्जियाँ खाता है। अमेरिका में हाल के एक अध्ययन से पता चला है कि अधिक मात्रा में फल और सब्जियों के उपयोग से कैंसर, हृदय संबंधी बीमारियों तथा मोतियाबिंद जैसे कई रोगों की संभावनाओं को कम किया जा सकता है।

डॉ० गुप्ता के अनुसार भोजन पकाने की विधियाँ भी कैंसर की संभावनाओं पर असर डालती हैं। फल और कच्ची सब्जियाँ कैंसर की संभावनाओं को कम करती हैं। *—साभार, सान्ध्य टाइम्स, 23 अगस्त 1995, पृ० 12*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दान की महिमा

–श्रीमती रंजना जैन, एम०ए०

> तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरुत्कंठिता श्रीः।
> स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चक्रवर्तित्व ऋद्धिः।।
> पाणौ प्राप्त त्रिदिवकमला कामुकी मुक्ति-संपत्।
> सप्तक्षेत्र्यां विपति विपुलं वित्तबीजं निजं यः।।
>
> *(सिंदूर प्रकरण : पद्य 8; पृ० 144)*
>
> ***अर्थ***–जो भव्य प्राणी अपने न्यायोपार्जित धनरूपी बीज को मुक्तहस्त से सप्तक्षेत्रों (जिनमन्दिर, जिनबिम्ब, शास्त्रप्रकाशन, जीर्णोद्धार, पूजा, पंचकल्याणक और चतुर्विध संघ) में बोता है (दान देता है); उसके समीप रत्नत्रयरूपी समाधि निवास करती है, कीर्ति उसकी दासी हो जाती है, धन-धान्य आदि लक्ष्मी उससे मिलने को उत्कंठित (व्याकुल) रहती है, बुद्धि उस पर अपना स्नेह रखती है, चक्रवर्ती की विभूति भी उसके समक्ष करबद्ध खड़ी हो जाती है, स्वर्गों की सम्पत्ति भी स्वयं उसके पास आती है; (अधिक क्या कहें, यहाँ तक कि) मोक्षरूपी लक्ष्मी भी उसके पास आने को ऐसी तत्पर रहती है, जैसे कि कामपीड़ित स्त्री अपने पति के निकट जाने को व्याकुल रहती है।

प्राचीन काल में **मणिमन्दिर** नामक गाँव में **श्रीकर** नामक एक व्यापारी निवास करता था। वह परम जिनभक्त था एवं प्रतिदिन त्रिकाल देवपूजा आदि श्रावक के छह आवश्यक कर्त्तव्यों में निरत रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम **कुशलवती** था। उसकी धर्माराधना के प्रभाव से उसके दोनों भृत्य (सेवक) भी जैनधर्म का पालन करने लगे थे। वे दोनों सेवक उस श्रेष्ठि के साथ प्रतिदिन मन्दिर जाकर भक्तिपूर्वक देवपूजा एवं स्वाध्याय आदि करने के बाद शुद्ध भोजन बनाते और किसी मुनिराज को भक्तिभाव से आहार देकर ही स्वयं भोजन ग्रहण करते थे।

इस प्रकार शुभ परिणामों पूर्वक आयु पूर्ण होने पर दोनों सेवक मरण को प्राप्त हुए तथा **कलिंगदेश** के **शूरसेन** नामक राजा की **विजया** नामक पटरानी की कुक्षि से दो सुन्दर पुत्रों के रूप में उन्होंने जन्म लिया। सभी ने अत्यन्त प्रेम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं वात्सल्यपूर्वक उनके नाम अमरसेन एवं वयरसेन रखे। अपने माता-पिता के दुलारे वे दोनों राजकुमार अल्पकाल में ही समस्त कलाओं के पारगामी हो गये। इस कारण वे प्रजाननों में ही अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनकी ऐसी उन्नति से ईर्ष्या करके उनकी सौतेली माँ ने विचार किया कि 'जब तक ये दोनों इस राज्य में रहेंगे, तब तक मेरे पुत्र को इस देश की राजगद्दी मिलना असम्भव है।' इस चिन्ता में वह दिन-रात घुलती रहती तथा इनको दूर करने का उपाय सोचती रहती थी।

एक दिन जब राजा शूरसेन बसन्तक्रीड़ा के लिए राज उद्यान में गया, तो उस दूसरी रानी (सौतेली माँ) ने अपने वस्त्र तार-तार कर दिये एवं अपने शरीर को नाखूनों से बुरी तरह नोंच डाला। राजा ने महल में वापस लौटने पर उसकी यह दुर्दशा देखी तो उससे पूछा कि "प्रिये ! तुम्हारी ऐसी दुर्दशा करने का दु:साहस किसने किया है?'' तब वह रानी बिलखते हुए बोली "राजन् ! मेरी यह दशा आपके दोनों लाड़ले कुमारों ने की है। उनके रहते हुए अब मैं यहाँ एक पल भी नहीं रहना चाहती हूँ; आप कृपया मुझे मेरे पीहर भिजवा दें।'' यह सुनकर वह राजा क्रोध से आगबबूला हो उठा और क्रोधावेश में ही उसने वधिकों को बुलाकर दोनों राजकुमारों को मौत के घाट उतारने का आदेश दे दिया।

किन्तु वधिक दोनों कुमार के सदाचरण एवं गुणगरिमा से बहुत प्रभावित थे, अत: उन्होंने दोनों कुमारों के पास जाकर उन्हें राजाज्ञा से अवगत कराया और निवेदन किया कि 'हे कुमार ! आप दोनों इसी समय यह देश छोड़कर गुप्तरीति से परदेश चले जायें।'' अपनी ही सौतेली माँ का ऐसा त्रियाचरित्र एवं ईर्ष्याबुद्धि जानकर दोनों राजकुमार बहुत व्यथित हुए तथा अपने पिता के द्वारा क्रोधावेश में ऐसा निर्मम दण्ड दिये जाने से भी उनका हृदय अत्यन्त पीड़ा से भर गया और फिर वे 'अपने पूर्वकृत कर्मों का यह फल है'—ऐसा विचार करते हुए गुप्तरीति से देश छोड़कर चले गये।

वधिकों ने राजा को "आज्ञा का पालन हुआ'' ऐसा झूठा संदेश सुनाया; जिसे सुनकर वह दूसरी रानी (सौतेली माँ) के हर्ष का पारावार नहीं रहा।

देश-देशान्तर परिभ्रमण करते हुए वे दोनों भाई एक जंगल में वृक्ष के नीचे रात्रि बिताने-हेतु रुके। थका होने से अमरसेन सो गया तथा सुरक्षा की दृष्टि से वयरसेन जागता रहा। उस वृक्ष पर एक तोता-युगल रहता था। इन दोनों भाइयों को देखकर मादा तोता नर तोते से बोली कि 'ये अपने अतिथि हैं, इनके सत्कार के लिए आप त्रिकूट पर्वत पर विद्याधर के द्वारा लगाये गये सहकारवृक्ष के दो फल ले आईये। एक फल को खाने वाला राजा बनेगा और दूसरे फल को

4365A
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
खाने वाले के मुख से प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्णमुद्रायें निकलेंगी।'' तब उस तोता युगल ने श्रमपूर्वक वे दोनों फल लाकर उन दोनों भाईयों को दिये। प्रात:काल नित्यकर्म के बाद दोनों भाईयों ने वे फल खाये। अमरसेन ने पहले वाला फल खाया तथा वयरसेन से दूसरा फल खाया। फल खाने के बाद वयरसेन के मुख से पाँच सौ स्वर्णमुद्रायें निकलीं। उस धन को पाकर वे दोनों भाई अति आनन्दित होकर अगले राज्य में प्रविष्ट हुये। उस राज्य का राजा नि:संतान मरण को प्राप्त हुआ था। जनता नवीन राजा के लिए चिन्तित थी, तभी दोनों भाई राजधानी में पहुँचे। पंचों ने सर्वगुणसम्पन्न जानकर **अमरसेन** का सर्वसम्मति से राज्याभिषेक कर दिया। वयरसेन इस प्रसंग को घटित होने देख चुपचाप वहाँ से अन्यत्र चला गया।

वहाँ से जाकर वयरसेन एक गणिका के यहाँ रहने लगा एवं पाँच सौ स्वर्ण मुद्रायें प्रतिदिन पाकर अनेकविध विषयभोगों में लीन हो गया। गणिका की माँ ने बिना किसी श्रम या व्यापार के वयरसेन को प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्णमुद्रायें लाते देख अपनी पुत्री के द्वारा छल से सारा वृत्तान्त जान लिया तथा वमनकारी औषधि खिलाकर वयरसेन के पेट से उस फल की गुठली वमन के द्वारा निकलवा ली। अब स्वर्णमुद्रायें नहीं निकलने पर वयरसेन दु:खी था, तथा गणिकायें तो धन की हो संगी होती है; अत: उस गणिका ने धन न दे पाने पर वयरसेन को अपमानित कर निकाल दिया। उदासचित्त वयरसेन जाकर जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठा था, कि रात्रि में वहाँ तीन चोर आये। चोरों के पास उड़नेवाली खड़ाऊँ की जोड़ी, शत्रु निवारक दंड एवं प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्णमुद्रायें देने वाला थैला था। वे इन चीजों के बँटवारे को लेकर झगड़ रहे थे। वयरसेन ने उनसे विवाद का कारण पूछा और उन तीनों चीजों की महिमा भी जान ली। चोरों ने उसे भद्रपुरूष जानकर निबटारे के लिए निवेदन किया, तो वयरसेन ने विचार के निमित्त एकान्त चाहा और खड़ाऊँ पहिनकर दंड व थैला लेकर आकाशमार्ग से उड़ गया। वहाँ से वह पुन: उसी नगर में पहुँचा और ठाठ-बाट से रहने लगा। उस गणिका को उसके वैभव की सूचना मिली, तो वह उससे क्षमायाचना करके उसे पुन: अपने घर ले आयी। गणिका की माँ ने पुन: छल से तीनों चीजों की महिमा जान ली तथा षड्यन्त्रपूर्वक वयरसेन को समुद्र के मध्य निर्जन द्वीप पर स्थित किसी यक्ष-मन्दिर में दर्शनार्थ ले गयी। वयरसेन के मंदिर में जाते ही वह उसकी खड़ाऊँ पहिनकर शेष दोनों चीजें लेकर आकाशमार्ग से अपने घर आ गयी।

वयरसेन अपने को पुन: छला गया जानकर बहुत दु:खी हुआ, तथा रोने लगा। तभी एक विद्याधर उस यक्षमन्दिर में आया और उसने उस राजकुमार से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसकी सारी कहानी सुनकर दया करके उसे दो फूल दिये; एक फूल के प्रभाव से मनुष्य गधा बन जाता था, तथा दूसरे फूल को सूंघने पर पुन: मनुष्य बन सकता था; तथा वयरसेन को समुद्र से निकालकर पुन: उसी नगर में छोड़ दिया। वयरसेन प्रतिशोध की आग में झुलस रहा था। उसने उस गणिका से मिलकर उसे प्रथम फूल भेंट किया। फूल को सुंघते ही वह गणिका 'गधी' बन गयी। तब वयरसेन ने उसके घर से अपना दंड एवं थैला उठाया एवं उस गधी पर बैठकर दंड से मारता हुआ नगर में घुमाने लगा। यह देखकर नगर की गणिकाओं ने सम्मिलितरूप से राजा से न्याय की विनती की। राजा ने वयरसेन को पकड़ने के लिये सैनिक भेजे, किंतु वयरसेन के दंड-प्रहारों से व्याकुल होकर वे सभी भागकर राजा के पास पहुँचे और राजा को सारी स्थिति बतायी। तब राजा स्वयं वहाँ गया और वयरसेन को देखते ही पहिचान गया कि 'यह मेरा बिछुड़ा हुआ भाई है।' दोनों भाई प्रेमपूर्वक गले मिले। फिर राजा अमरसेन के कहने पर वयरसेन ने गधी बनी हुई गणिका को दूसरा फूल सुंघाकर नारी बना दिया। मनुष्यरूप प्राप्त करके वह गणिका अपने कुकर्मों की क्षमा माँगती वहाँ से चली गयी।

उन दोनों भाईयों ने तब अपने पिता राजा शूरसेन से सम्पर्क कर सारी बात बतायी। राजा ने बड़े वात्सल्यपूर्वक दोनों भाईयों को दोनों देशों का राज्य सौंप दिया। बहुत दिनों तक सुखपूर्वक राज्य करने के बाद वृद्धावस्था आने पर उन दोनों भाईयों ने निर्ग्रन्थ सन्तों से वैराग्यप्रद उपदेश सुनगर वैराग्यपूर्वक जैनेश्वरी दिगम्बर मुनि-दीक्षा अंगीकार की एवं तपस्या करके समाधिपूर्वक शरीर का त्याग कर वे दोनों वैमानिक स्वर्गों को प्राप्त हुये। –ऐसा सम्पूर्ण सुफल उन्होंने सत्पात्र-दान के कारण प्राप्त किया। अत: भक्तिभावपूर्वक फल की इच्छा से रहित होकर सुपात्रों को दान देना श्रावकों का परम कर्त्तव्य है। **

"णाणादेसे कुसलो, णाणादेसे गदाण सत्थाणं।
अभिलाव-अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण।।"[1]

"नवीन-नवीन देसनि में विहार करने तैं नानादेसनि का, आचरण का तथा देसनि की रीति तथा चारित्र पालने की योग्यता वा अयोग्यता का अनुभव होय है। बहुरि नानादेशनि में प्राप्त भये जे शास्त्र, तिनमें प्रवीणता होय है। बहुरि नानादेशनि की भाषा तथा अर्थनि प्रवीणता होय है।"

1. भगवती आराधना, 151, पृ० 192

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौरसेनी प्राकृत : एक परिचय

–पं० महावीर शास्त्री, सोलापुर

विगत कुछ दिनों से शौरसेनी प्राकृत चर्चा एवं ऊहापोह का विषय बनी हुई है। भारत की इस प्राचीन एवं समृद्ध भाषा का चर्चित होना जहाँ हर्षोत्पादक है, वहीं इसका मूल परिचय भी अपेक्षित है। अन्यथा ऊहापोह की दिशा बदल सकती है और जब दिशा ही बदल जायेगी, दृष्टिकोण बदल जायेगा; तब निष्कर्ष सम्यक् कैसे हो सकेगा? इसी निमित्त शौरसेनी प्राकृत का परिचयात्मक लेख प्राकृतभाषा प्रेमियों एवं भाषाशास्त्र के जिज्ञासुओं को समर्पित है।

जैसे सिंध प्रान्त की भाषा 'सिंधी' कहलाती है, बंगाल में बोली जाने वाली भाषा 'बंगाली' कही जाती है, गुजरात की भाषा को 'गुजराती' संज्ञा दी जाती है, मराठवाड़ा की भाषा को 'मराठी' कहते हैं एवं पंजाब प्रान्त में बोली जाने से वहाँ की भाषा 'पंजाबी' नाम पाती है; उसी प्रकार प्राचीन शूरसेन जनपद की भाषा 'शौरसेनी प्राकृत' थी।

मथुरा का समीपवर्ती प्रदेश 'शूरसेन जनपद' के नाम से विख्यात था। तब गोकुल, वृन्दावन, अग्रवन (आगरा) आदि क्षेत्र इसी जनपद के अंग थे। इस शूरसेन जनपद की राजधानी 'मथुरा नगरी' थी। मथुरा नगरी के प्राचीन वैभव का वर्णन बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तर' में निम्नानुसार प्राप्त होता है–

"इयं मथुरानगरी ऋद्धा च स्फीता च क्षेमा च सुभिक्षा चाकीर्णबहुजनमनुष्या च। राज्ञ: सुबाहो: कंसकुलस्य शूरसेनेश्वरस्य राजधानि: ।[1]

अर्थ–यह मथुरा नगरी समृद्ध और स्फीत (प्रगतिशील) थी, क्षेमङ्करा (शांति प्रदायिनी) थी, धन-धान्य से परिपूर्ण थी तथा बहुत प्रकार के मनुष्यों से आकीर्ण (भरी हुई) थी। कंसकुल के राजा महाबलशाली शूरसेनेश्वर (सम्राट् शूरसेन) की राजधानी थी।

'आदिपुराण' के कर्त्ता भगवज्जिनसेनाचार्य ने भारतवर्ष के अनेकों जनपदों (देशों) का वर्णन किया है–

दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तका:,
विदेहसिन्धुगान्धारयवनाश्चेदिपल्लवा: ।
काम्बोजारट्टबाह्लीकतुरुष्कशककेकया:,
निवेशितास्तथान्येऽपि विभक्ता विषयस्तदा । ।[2]

अर्थ–दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, उपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, अरट्ट, बाह्लीक, तरुष्क, शक और कैकय—इन देशों की रचना की तथा इनके अतिरिक्त उस समय और भी अनेक देशों का विभाग किया।

प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने भी उस समय के तीन प्रमुख देशों में शूरसेन की गणना की है—

"कैकेयं शौरसेनञ्च पाञ्चालमिति च।"[3]

इसी शूरसेन प्रदेश की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी।

यह शौरसेनी प्राकृत अपनी जन्मस्थली शूरसेन प्रदेश के कारण 'शौरसेनी' कहलायी, किन्तु यह सुदूरवर्ती सीमान्त प्रान्त कैकेय (काबुल)[4] तक बोली जाती रही। अतएव पद्मपुराण में उल्लेख मिला कि—

"नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता।।"[5]

अर्थात् प्रातिपदिक, तिङन्त, उपसर्ग और निपातों में संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी —ये तीन भाषायें कैकय प्रदेश में स्वीकार की गयीं हैं।

कैकेय प्रदेश का परिचय देते हुए पं० पन्नालाल साहित्याचार्य लिखते हैं—"पंजाब प्रान्त की वितस्ता (झेलम) और चन्द्रभागा (चिनाब) नदियों का अन्तरालवर्ती प्रदेश पहिले 'केकय' नाम से प्रसिद्ध था। 'गिरिवज्र', जिसका कि आजकल नाम 'जलालपुर' है, इसकी राजधानी थी।'[6] 'पाइयसद्दमहण्णव' के अनुसार 'केकैय' सिंधुदेश की सीमापार स्थित है।[7]

पहिले शौरसेनी को सामान्य 'प्राकृत' नाम से जाना जाता था, जैसे कि परवर्ती काल में 'महाराष्ट्री प्राकृत' को सामान्य 'प्राकृत' संज्ञा प्राप्त हुई। महाकवि दण्डी लिखते हैं—"शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी।
यातिं प्राकृतमित्येवं, व्यवहारेषु सन्निधिम्।।"[8]

यह शौरसेनी प्राकृत भाषा विशेष लक्षणों से पहिचानी जाती है। ऐसा नहीं है कि इसके चाहे जैसे यादृच्छिक प्रयोग किये जायें और सभी को शौरसेनी प्राकृत का रूप मान लिया जाय। 'भारतीय विद्या निबन्धसंग्रह' में स्पष्ट रूप से इसे 'विशेष लक्षणोंवाली भाषा'[9] घोषित किया गया है।

प्राकृतभाषा के कई रूप मिलते हैं। प्राकृतों का विभाग विभिन्न भाषाविदों ने अपने-अपने ढंग से किया है। 'प्राकृतमणिदीप'कार चार प्राकृत भेद-मानते हैं—

"सर्वैरपि प्राकृतवैयाकरणैः प्राकृती, शौरसेनी, मागधी पैशाची चेति चतस्रो भाषा परिगृहीता — इति ज्ञायते।"[10]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि रुद्रट ने भाषाओं के छह भेद माने हैं–

"प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषाश्च सूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश:।।"

यहाँ पर प्राकृत, संस्कृत, मागधी एवं पैशाची का एक पद में उल्लेख किया गया है, तथा शौरसेनी का स्वतन्त्र उल्लेख़ है; जो कवि रुद्रट की दृष्टि में शौरसेनी का स्वतन्त्र महत्त्व ज्ञापित करता है।

इसके अतिरिक्त भी अनेक भेद प्राकृतभाषा के गिनाये गये हैं, जो कि निम्नानुसार हैं— 1. सूरसेनी (शौरसेनी), 2. मागधी, 3. अर्धमागधी, 4. गौडी, 5. लाटी, 6. पैशाची, 7. महाराष्ट्री, 8. अवन्तिका, 9. प्राच्या, 10. वाह्लीकी, 11. दाक्षिणात्या, 12. शाकारी, 13. शाबरी, 14. आभीरिका, 15. टाक्की, 16. नागर, 17. ब्राचड, 18. उपनागर, 19. पांचाली, 20. कैकेयी, 21. चूलिका पैशाची और 22. अपभ्रंश।

इनमें से नागर, उ़पनागर, ब्राचड, आभीरिका—ये अपभ्रंश भाषा के भेद माने गये हैं।

इन सबमें शौरसेनी प्राकृत अपेक्षाकृत प्राचीन एवं विशिष्ट महत्त्व की भाषा है। कई प्राकृत भाषायें इसके प्रभाव से अपना परिचय प्राप्त करती हैं, यथा–अर्द्धमागधी प्राकृत। प्राकृतसर्वस्वकार स्पष्ट लिखते हैं–

"शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी।"[11]

अर्थात् **'शौरसेनी' के निकटवर्ती (अत्यन्त प्रभावित) होने के कारण 'मागधी' ही 'अर्धमागधी' है।** इससे स्पष्ट है कि वर्तमान अर्धमागधी भाषा कोई प्राचीन मूलभाषा नहीं थी, अपितु शौरसेनी के प्रभाव से परिवर्तित मागधी भाषा का ही एक रूप है।

वस्तुत: जिस मागधी प्राकृत से अर्द्धमागधी भाषा का विकास प्राकृतसर्वस्वकार मानते हैं, उसने स्वयं शौरसेनी प्राकृत से अपना स्वरूप-निर्माण किया है; अतएव आचार्य वररुचि को लिखना पड़ा–

"प्रकृति: शौरसेनी।[12]
–अस्या मागध्या: प्रकृति: शौरसेनीति वेदिव्यम्।।"

प्राकृत वैयाकरण त्रिविक्रम भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं–

"मागध्यां शौरसेनीवत्"[13] अर्थात् मागधी में शौरसेनी के समान कार्य होता है।

न केवल मागधी, अपितु पैशाची प्राकृत की भी प्रकृति शौरसेनी मानी गयी है—**'प्रकृति: शौरसेनी' – अस्या: पैशाच्या: प्रकृति: शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां वैशाली लक्षणं प्रवर्तयितव्यम्।'**'[14]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि मार्कण्डेय ने इस शौरसेनी प्राकृत को लालित्य एवं गांभीर्य से युक्त प्रसादकारिणी भाषा माना है–

"राजपत्न्यादि वक्त्रेन्दु-संवास-हृदयंगमा।
मृदु-गम्भीरसन्दर्भा शौरसेनी धिनोतु वः।।"15

ऐसी शौरसेनी प्राकृत भाषा के स्वरूप एवं महत्त्व को जानकर सभी इसके व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न हों, इसकी प्रतिष्ठा बनायें–यही भावना है।

सन्दर्भ सूची

1. 'ललितविस्तर', 3/22, पृ० 15।
2. 'आदिपुराण', पर्व 16, पद्य 155-156, पृ० 360।
3. 'प्राकृतसर्वस्व', श्लोक 6, पृ० 6।
4. 'प्रतिष्ठातिलक', पृ० 236।
5. आ० रविषेण, 'पद्मपुराण', 24/11।
6. 'आदिपुराण', संपादक पं० पन्नालाल साहित्याचार्य।
7. 'पाइअसद्दमहण्णव' – पृ० 259।
8. 'काव्यादर्श', 1/35। तथा 'काव्यालंकार', टिप्पण 2/22 भी द्रष्टव्य।
9. 'भारतीय विद्या निबन्ध-संग्रह', पृ० 223।
10. श्री निवास गोपालाचार्य, मैसूर द्वारा 1943 में प्रकाशित 'प्राकृतमणिदीप'।
11. 'प्राकृत-सर्वस्व', पृ० 103।
12. 'प्राकृत-प्रकाश', 21/2।
13. त्रिविक्रमकृत 'प्राकृत व्याकरण', 3/2/27।
14. 'प्राकृत-प्रकाश', 10/1।
15. मार्कण्डेयकृत 'दशग्रीववध' से।

**

"यन्न्यासत स्फुरित कोऽपि हृदि प्रकाशो,
वाग्देवता च वदने पदमादधाति।
लब्ध्वा तदक्षरवरं गुरूसेवया त्वं,
मा-मा कृथा कथमपीह विराममस्मात्।।

—*(अमृताशीति, पद्य ३१)*

अर्थ—जिसके आते ही/प्राप्त होते ही हृदय में कोई अद्भुत प्रकाश हो जाता है, तथा साक्षात् सरस्वती आकर मुखकमल में विराजमान हो जाती है; उस मंत्ररूपी श्रेष्ठ अक्षरपुंज को तुम गुरूकी सेवा से ही प्राप्त करो, इसमें कदापि विलम्ब मत करो-मत करो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरंतर महिला सेवा में अर्पित जीवन:कळंत्रे अक्का

—वसंतदादा पाटील

> स्व० श्री बसन्तदादा पाटिल महाराष्ट्र प्रान्त के यशस्वी मुख्यमन्त्री एवं राजस्थान के राज्यपाल रहे। अपने सुदीर्घ राजनीतिक जीवन में उन्होंने अनेकों स्वर्णिम अध्यायों की रचना की। वे एक उदारवादी विचारक एवं मनस्वी राजनीतिज्ञ थे। उनके द्वारा बीसवीं सदी की एक जैन महिलारत्न के बारे में व्यक्त किये गये मार्मिक उद्‌गार उन्हीं के शब्दों में पठनार्थ प्रस्तुत हैं। —सम्पादक

पूज्य श्रीमती कळंत्रे अक्का जी का जीवन-चरित्र मैंने पढ़ा, उसे पढ़कर मुझे जो अनुभव हुआ; उसे केवल शब्दों में लिखना करना या कहना कठिन है। अक्काजी की और मेरी वैसे बहुत पुरानी पहचान है। अनेक वर्षों से मैं उनका कार्य देख रहा हूँ। अनेक क्षेत्रों में हमने साथ-साथ काम किया है। फिर भी अक्का जी के जीवन के छोटे-छोटे प्रसंग, उन पर गुजरी कठिन परिस्थितियाँ, उस मरुभूमि में भी उन्होंने विकसित किये हुये लोकसेवा के नंदनवन; निश्चित ही मेरे मन पर गहरा प्रभाव डाल गये। चरित्रलेखक श्री पांडुरंग काळे जी की लेखनशैली प्रभावी, रसपूर्ण और तेजोमय है ही; उसमें अक्का जी का जीवन इतना ज्वलंत और त्यागमय है, कि उन्हें शब्दों में बाँधते हुऐ लेखनी में भी एक अद्‌भुत प्रभाव न आये, तो यह भी एक आश्चर्य होगा।

अक्का जी का जन्म जैसे कि सिर्फ समाज सेवा के लिए ही हुआ था। शरीर का हर कण और जीवन का हर क्षण उन्होंने समाज सेवा के लिए समर्पित कर दिया था। ऐसा लगता था जैसे उन्हें भगवान् ने निजी जीवन कुछ दिया ही ना हो। कम उम्र में पतिदेव के स्वर्गवास ने उनके संसारी जीवन में बाधा डाली थी।

पढ़ना और पढ़ाना-यही उन्नति का दिव्यमार्ग जानकर उन्होंने ज्ञानदान के पवित्रमार्ग को अपनाने का निश्चय किया। लेकिन उसके लिए उन्हें खुदको सुसंस्कृत और सुशिक्षित होना आवश्यक था। यही वजह थी कि वह खुद पढ़ती रही और दु:खी, जो पढ़ना तो चाहते थे, लेकिन कठिनाईयों की वजह से पढ़ नहीं पाते—ऐसे लोगों के लिए उन्होंने संस्थायें स्थापित कीं। उन संस्थाओं को अपने परिश्रम की खाद डालकर बढ़ा रही थीं उन्हें विकसित कर रही थीं, उनका परिपालन कर रही थीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांगली के संस्थानों को उन्होंने शिक्षा की दिशा दी। ज्ञान की यह ज्योति हर गाँव में, हर घर में जन-जन में और खासकर विधवाओं तक उन्होंने पहुँचायी। सांगली संस्थान के हाईस्कूल के लिए किया गया उनका कार्य, कठिन परिस्थितियों को समझकर उनका किया गया सामना, उस स्कूल के साथ तंत्रशाला शुरू करने पर घर-घर जाकर तैयार किये विद्यार्थी, उसके साथ शुरू की गयी वाणिज्यप्रशाला —इन सब कार्यों को मैंने अपनी आँखों से देखा है।

समाज की परंपरागत गलत रूढ़ियाँ—बालविवाह, वृद्धों का अल्पवयस्कों के साथ विवाह, कन्या-बिक्री, द्विभार्या-विवाह-पद्धति, हरिजनों को शिक्षा का मार्ग दिखाना इत्यादि अनेकों कार्यों को; जो आज तो आसान लगते हैं, लेकिन उस समय के वातावरण में इस कठिन कवच को फोड़ने में अक्का पूरी तरह यशस्वी हो गयी; इसमें कोई संशय नहीं है।

शैक्षणिक और सामाजिक कार्यों पर जोर देना अक्का की इच्छा रही होगी; लेकिन कोई मनुष्य जब फल की अपेक्षा नहीं करते हुये सिर्फ कर्म करते रहता है, तो उसे फल अपने आप मिल जाता है। इसी तरह 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त होने पर सब संस्थानों को खालसा कर दिया गया और अक्काजी निर्विरोध काँग्रेस कमेटी की अध्यक्षा चुन ली गयी। 1949 के अगस्त में केंद्र सरकार ने चुनाव न कराते हुए संस्थानों के कुछ प्रमुख व्यक्तियों को सदस्य नियुक्त कर दिया, उसमें अक्काजी का भी नाम शामिल था। 1952 के विधानसभा चुनाव में विरोधी दल के दो उम्मीदवारों की जमानत राशि जब्त कराकर वे चुन ली गयीं। सांगली अक्का जी की कर्मभूमि थी। इस सदस्या के पद से उन्हें शैक्षणिक और सामाजिक कामों में बहुत मदद मिली, उनके कामों को गति मिल गयी।

नि:स्वार्थभाव से किया हुआ समाजकार्य एवं अक्का जी के हर क्षेत्र में किये कार्य की प्रशंसा देखकर विरोधी कुबुद्धी के कुछ लोगों ने उन पर कुछ गलत आरोप लगाये। लेकिन अक्का जी का जीवन निर्मल जल की तरह साफ था, उनकी संस्था का सब हिसाब और उनके कागजात ठीक थे। उन पर लगाये हुऐ सब आरोपों का निराकरण होते ही उन्होंने अपनी कर्मभूमि का त्याग कर दिया और वे बम्बई आ गयीं। उनका दातृत्व कर्ण के समान था। पति के स्वर्गवास के बाद एक लाख की जो जायदाद थी, वह अपने गोद लिए हुए भतीजे को दे दी। वहाँ संस्थाओं के पैसों को लेकर वह सन्यस्त स्त्री क्या करतीं?

अक्का जी ने खुद को 'जैन महिला परिषद' के लिए समर्पित कर दिया था। गाँव-गाँव में जाकर वे सभायें लेती थीं। जैन लड़के-लड़कियों के लिए उन्होंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छात्रावास खोले। तन-मन और धन से उनकी मदद की। अक्का जी जबकि जैन धर्मानुयायी थीं, फिर भी वे इन जातिवादों को नहीं मानतीं थीं। दीन-दु:खियों का दु:ख दूर करना, उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करना, सही शिक्षा का मार्ग दिखाना—इसी धर्म को वे मानती थीं। यही कारण है कि उनकी संस्थाओं में, श्राविका आश्रमों में सभी धर्मवालों को प्रवेश मिलता है।

आज के इस युग में **यू.एन.ओ. का स्त्रीगौरववर्ष** मनाने की आवश्यकता तो ठीक है, परंतु अक्का जी के युग में उन्होंने लिया हुआ स्त्री उद्धारव्रत, स्त्रीशिक्षा, उसका आरोग्य, उसका अधिकार, उसकी रोजी इसके लिए उन्हें अपने खून की हर बूँद पानी करना पड़ी होगी, किन कठिन मार्गों से उन्हें चलना करना पड़ा होगा? —इसकी पूरी कल्पना सामने आती है। उस अंधकार को उजाले में बदलने के लिए, अपने सर्वस्व का हवनकर, उस ज्ञानरूपी दीपक को लेकर वह महान् स्त्री बिना डगमगाये चलती रही। उन्होंने सबको बड़ी बहन जैसा प्यार दिया; यही कारण था कि अनेक महिलायें उनके आश्रमों में अपना पीहर (मायका) समझकर रहने आती थीं और अक्का भी उन्हें माता का प्रेम देकर उनकी हर इच्छा पूरी कर उन्हें भेजती थीं।

अक्काजी ने अपने कर्मभूमि को छोड़ा था, फिर भी बम्बई में रहकर उन्होंने उस जन्मभूमि के लिए काम करना उन्होंने नहीं छोड़ा। वहाँ के श्राविका-आश्रमों को मार्ग पर लाकर, उनमें आधुनिक सुधार लाकर वहाँ का स्वर्ण-महोत्सव उन्होंने बड़ी धूमधाम से मनाया। बड़ी इमारत खड़ी की।

अक्काजी ने पूरे देश में भ्रमण किया, बहुत से धर्मस्थलों के दर्शन किये, विदेश दौरे किये, अनेक मान-पत्र हासिल किये —वे आज अपने जीवन के सौ वर्ष पूरे करने जा रही हैं। शरीर तो थक रहा है, परंतु मन वही है। सदा उल्हासित समाजसेवा की भावना अभी वहीं है। लेकिन क्या इतना यह शरीर साथ देगा? अभी कार्य पूरा नहीं हुआ है। बहुत सा काम अभी बाकी है, आश्रमों में महाविद्यालय शुरू करना है। निराश्रित महिलाओं के लिए उद्योग शुरू करवाकर व्यापक योजना तैयार करनी हैं। कितने ही सपनों को साकार करना है। ऐसा यह अक्काजी का जीवन विविधरंगी, अनेकों पहलुओं में, नाना प्रकार के व्यक्तित्वों से सजा हुआ पढ़कर खुशी की सीमा नहीं रहती है। यही कारण है कि लगता है अक्काजी को दीर्घ आयु, आरोग्य मिले। उनके सपनों को सही दिशा मिले।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी परमात्मा का स्वरूप

वर्ण-गन्ध अरु रस नहीं, शब्द-स्पर्श न जासु।
जन्म-मरण भी है नहीं, नाम निरंजन वासु।। *—परमात्मप्रकाश 1, 19*

अर्थ—जिस नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी, परमानन्द स्वभाव, शान्त और शिवस्वरूप परमात्मा के पाँच प्रकार के रस नहीं हैं, भाषा एवं अभाषात्मक शब्द नहीं हैं (सात प्रकार के स्वरों से रहित), आठ प्रकार का स्पर्श नहीं है और जन्म, मरण भी नहीं हैं; उस चिदानन्द शुद्धस्वभावी परमात्मा को निरंजनदेव कहते हैं।

जो परमातम है वही, हूँ जो है परमात्म।
जाने यह बिनु जोगिया, मत कर अन्य विकल्प।। *—योगसार, दो० 1,86*

अर्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है—यह समझ कर हे योगिन् ! अन्य कोई भी विकल्प मत करो।

आत्मा गोरा कृष्ण नहिं, आत्मा रक्त न होइ।
आत्मा सूक्ष्म-स्थूल नहीं, ज्ञानी जाने जोइ।। *—परमात्मप्रकाश 1, 86*

अर्थ–जो वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी हैं, वे भेद-विज्ञान के बल से जानते हैं कि 'आत्मा न तो गोरा है और न साँवला। आत्मा लालरंग का नहीं है। आत्मा सूक्ष्म और स्थूल भी नहीं है। लाल, पीला, काला, नीला आदि शरीर के रंग हैं। आत्मा तो वास्तव में निरंजन है।'

तीर्थहिं तीर्थ भमंतहिं, मूढन मोक्ष न होइ।
ज्ञान-विवर्जित जीव जो, मुनिवर होइ न सोइ।। *—परमात्मप्रकाश 2, 85*

अर्थ—जो जीव वीतराग स्वसंवेदनज्ञान से रहित हैं, उनको प्रत्येक तीर्थ की यात्रा करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। हे जीव ! जो आत्मज्ञान से रहित हैं, वे मुनिवर नहीं हैं। मुनिवर तो संकल्प-विकल्पों से रहित होकर निज शुद्धात्म-स्वरूप में लीन रहते हैं।

**

'हिलया राजहंसेन यत्कृतं कल-कूजितम्।
तादृग् वर्षशतेनापि जानात्याशिक्षितं बकः।।"

अर्थ–राजहंस क्रीड़ापूर्वक (सहज ही) जैसा कर्णप्रिय कलरव करते हैं, क्या वैसी मधुर ध्वनि का उच्चारण बगुला सैकड़ों वर्षों के अभ्यास के बाद भी कर सकता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार के पाठ

—डॉ० सुदीप जैन

[प्रस्तुत स्तम्भ सम्पादकों, विचारकों एवं स्वाध्यायीजनों को विचारार्थ प्रेरित कर रहा है—इस बात के प्रमाण हैं अनेकों पत्र तथा दूरभाष एवं प्रत्यक्ष चर्चा आदि के द्वारा प्रस्तुत अनेकों आशंकायें जिज्ञासायें एवं संस्तुतियाँ; जो कि विगत दो माह में मुझे अनवरत रूप से प्राप्त हुई हैं। एक पाठक ने तो यहाँ तक कह दिया कि **"क्या आप अपने आप को आ० कुन्दकुन्द से अधिक समझदार समझते हो, जो उनके समयसार में भूलें निकाल रहे हो?"** लगता है अन्य कुछ लोग भी ईर्ष्या या मात्सर्य की भावना से प्रेरित हो समाज को ऐसे वचनों के द्वारा उत्तेजित कर रहे हों। मेरा उन सभी से विनम्र निवेदन है कि बंधुओ ! प्रातःस्मरणीय महाज्ञानी परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के लेखनी में दोष निकालने की कल्पना भी मेरे लिए असंभव है। इस स्तम्भ में तो मात्र उन सम्पादकों एवं प्रकाशकों की भूलों पर ध्यानाकर्षित किया जा रहा है, जो कि आधुनिक सम्पादकों की असावधानी या मूलपाठ न देखने की तथा जल्दबाजी में **'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः'** की वृत्ति से छपाने के कारण आ गयीं हैं। और जिनके कारण परमज्ञानी आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की स्वरूपहानि हो रही है। उनका परिष्कार एवं आचार्य के शुद्ध मूलपाठों का प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण ही इस स्तम्भ का एकमात्र लक्ष्य है।

—*सम्पादक*]

'समयसार' ग्रन्थ की 412 भार की प्रथम पंक्ति के द्वितीय चरण का शुद्ध पाठ है **"चेदयहि झायहि तं चेव"**; जबकि समयसार के अधिकांश प्रकाशित संस्करणों में इसके स्थान पर **'तं चेव झाहि तं चेय'** —यह पाठ प्राप्त होता है। वस्तुस्थिति क्या है? इसकी समीक्षा के लिए मूल गाथा, उसकी टीकाओं एवं आचार्य के अभिप्राय को तुलनात्मकरूप से समझना आवश्यक है—

मूल गाथा— मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि झायहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।। 412।।

अर्थ—हे भव्य! तुम अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित करो, उसी का अनुभव करो, और उसी का ध्यान करो। उसी में नित्य विचरण करो; अन्य द्रव्यों में विचरण मत करो।

अब यदि इसकी जगह **'त चेव झाहि तं चेव'** पाठ रखें, तो अर्थ होगा **'उसी को–उसी को ध्यान करो।'** इस प्रकार **'तं चेव'** वाक्यांश का एक ही वाक्य में दो बार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आना **'पुनरुक्ति दोष'** है। तथा अर्थ की संगति भी इससे नहीं बनती है। मजे की बात यह है कि सभी प्रतियों में हिन्दी अर्थ में उपर्युक्त गाथार्थ (उसी का अनुभव करो, उसी का ध्यान करो) को ही दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि सभी सम्पादकों को अर्थ में कोई विरोध नहीं है। मात्र मूलपाठ में भी भेद रहा है। वह क्यों? —इसका विचार करने पर जो कारण सामने आये, वे निम्नानुसार हैं—

1. आधुनिक सम्पादकों में से अधिकांश सम्पादकों को भाव का बोध तो सही था, किन्तु भाषा का बोध नहीं था। अन्यथा भाव के अनुरूप शब्दों को न पाने पर वे मूलपाठों का अन्वेषण करते और तब उन्हें सही पाठ मिल जाता।
2. उन्होंने पाठ-सम्पादन के मूलमंत्र **'टीकाओं में ग्रंथ के मूलपाठ अधिक प्रामाणिकरूप से सुरक्षित मिलते हैं'** —को नहीं जाना था। अन्यथा वे टीकाओं में उपलब्ध पाठों व मूलगाथा के पाठ का मिलान करते, तो उन्हें टीकाओं से सही पाठ मिल जाते। क्योंकि आचार्य जयसेन की टीका में **"चेदयहि.... अनुभवस्व, झायहि तं चेव तमेव ध्याय"** —यह मूल पाठ स्पष्टरूप से दिया गया है। तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने भी 'ध्याय' तथा 'चेतयस्व' —इन संस्कृत पदों का प्रयोग किया है, जिनके प्राकृतरूप **'झायहि'** तथा **'चेदयहि'** ही बनते हैं।
3. मूल ताड़पत्रीय प्रति को भी उन्होंने अपने पाठ-सम्पादन का आधार नहीं बनाया, अन्यथा उसमें भी **"चेदयहि झायहि तं चेव"** —यही पाठ है।
4. प्राचीन प्रकाशनों (सन् 1914 में पं० गजाधरलाल जी का सम्पादन सन् 1930 में जे०एल० जैनी के सम्पादन तथा सन् 1942 में कलकत्ता से प्रकाशित समयसार) में अपेक्षाकृत शुद्धपाठ (विदयदि झायहि तं चेव) उपलब्ध है। परवर्ती सम्पादकों एवं प्रकाशकों ने किस आधार पर इन्हें बदला? —यह उत्तर कौन देगा? क्योंकि अपनी आधारप्रति का परिचय देने तथा परिवर्तित पाठों का स्पष्टीकरण एवं प्रमाण देने की प्रवृत्ति जैनसमाज के इन सम्पादकों/प्रकाशकों में प्राय: नहीं के बराबर है।
5. आचार्य कुन्दकुन्द मूलत: उत्कृष्टतम अध्यात्मवेत्ता थे और उन्होंने अध्यात्म-प्रधान दृष्टि से भव्यजीवों के हित के लिए 'समयसार' ग्रंथ की रचना की थी —यह सत्य है। किन्तु वे एक प्रकाण्ड भाषाविद् भी थे, अत: उनके मूलपाठ व्याकरणशास्त्रीय एवं साहित्यशास्त्रीय मानदण्डों पर खरे उतरते हैं। जबकि आधु-निक विद्वानों ने अपनी भूलों से उपजे दूषित पाठों को जबरन **'पाठभेद'** बनाने के लिए 'कुन्दकुन्द आध्यात्मिक संत थे, भाषा- विशेषज्ञ नहीं' का नारा दे दिया है। और प्रूफ की भूल या प्रमाद व अज्ञान से उपजे गलत पाठों की अपनी भूल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकार करने की बजाय 'ये कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के पाठभेद हैं'' —यह वाक्य रट लिया है। मजे की बात तो यह है कि इन आलोचक विद्वानों में से अधिकांश यह भी स्वीकार करते हैं कि वे न तो प्राकृत के विद्वान् हैं और न ही उन्हें कन्नड़ ताड़पत्रीय प्रतियों को पढ़ने का ज्ञान है'; तथापि वे क्यों समीक्षा करने लगते हैं— यह विचार वही करें, तो अधिक उचित होगा।

प्रस्तुत पाठभेद की समीक्षा—

(क) इस गाथा के आगत 'ठवेहि', चेदयहि' एवं 'झायहि' —ये तीनों आज्ञार्थक क्रियापद हैं, जो कि लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन के रूप हैं। तथा 'तं चेव' (उसी का) पद का अन्वय 'मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि' —इस वाक्यांश के साथ है, जिसका अर्थ होगा कि "मोक्षपथ में आत्मा को स्थापित करो (और फिर) उसी (आत्मा) का अनुभव करो (चेदयहि) एवं ध्यान करो (झायहि)।''

(ख) जो 'वेदयदि' पाठ है, वह प्रूफ की भूल से उपता प्रतीत होता है; क्योंकि 'व' तथा 'च' के आकार में बहुत अन्तर नहीं है। इसी प्रकार 'हि' एवं 'दि' भी प्राय: समाज आकार वाले हैं। अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'चेद्' एवं 'वेद्' दोनों धातुओं का अर्थ 'अनुभव करना' ही लिया गया है— अत: कोई अर्थ भेद नहीं है। हाँ धातुरूप की दृष्टि से 'वेदयदि' लट्लकार (वर्तमान काल) का रूप है, जबकि 'चेदयहि' लोट् लकार (आज्ञार्थक) है। तथा शेष दो क्रियापदों (ठवेहि, झायहि) के साथ भी 'चेदयहि' का ही समानाधिकरण्य है, 'वेदयदि' का नहीं।

(ग) अन्त में 'तं चेव' पाठ के स्थान पर 'तं चेय' पाठ करके कुछ सम्पादकों ने 'चेय' पद को 'चेतयस्व' इस 'आत्मख्याति' टीका में आगत पद का प्राकृतरूप बनाना चाहा है, जो कि भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं है।

(घ) छन्दशास्त्रीय दृष्टि से भी 'गाथा' (गाहा) छन्द में प्रथम पंक्ति के प्रथम चरण में बारह तथा द्वितीय चरण में अठारह मात्रायें होती हैं। यदि हम **'ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय'** पाठ रखते हैं, तो कुल सत्रह मात्रायें ही होती हैं; जबकि **'ठवेहि चेदयहि झायहि तं चेव'** —यह पाठ रखने पर अट्ठारह मात्रायें भीपूर्ण हो जाती हैं।

निष्कर्ष—यहाँ मेरा यह कहने का कदापि यह अर्थ नहीं है कि व्याकरण एवं छंद की दृष्टि से 'ठवेह चेदयहि झायहि तं चेव' पाठ शुद्ध होने से यह पाठ रखा जाये। अपितु **मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मूलग्रंथकार आचार्य कुन्दकुन्द ने यही पाठ लिखा था; उसके टीकाकारों (आ० अमृतचन्द्र एवं आ० जयसेन) ने भी इसी पाठ की पुष्टि की है तथा व्याकरण एवं छन्दशास्त्र-सम्मत होने से यह पाठ आ० कुन्दकुन्द के इन**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याकरण एवं छन्दशास्त्रीय वैदुष्य को सूचित करता है। तथा अर्थ का सुरक्षा भी इसी पाठ में है, जब कि अन्य पाठ पुनरुक्तिदोषयुक्त हैं।

विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध उक्तपाठ का विवरण निम्नानुसार है—

विभिन्न समयसारों में उपलब्ध पाठ—

क्र०	समयसार की प्रति	उपलब्ध पाठ	पृष्ठ सं०
1.	निजानन्द ग्रंथमाला, सहारनपुर	तं चेव झाहि तं चेय	203
2.	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	तं चेव झाहि तं चेय	503
3.	दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	तं चेव झाहि तं चेय	562
4.	अहिंसा मन्दिर, दिल्ली	तं चेव झाहि तं चेय	503
5.	रायबहादुर जे०एल० जैनी	(गा.क्र.434) वेदयहि झायहितं चेव	212
6.	भारतीय ज्ञानपीठ (अंग्रेजी संस्करण)	तं चेव झाहि तं चेद	412
7.	कुन्दकुन्द कहान् ट्रस्ट, जयपुर	तं चेव झाहि तं चेय	412
8.	सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ	तं चेव झाहि तं चेय	652
9.	भावनगर (गुजराती संस्करण)	तं चेव झाहि तं चेय	582
10.	कारंजा (मराठी संस्करण)	तं चेव झाहि तं चेय	526
11.	बैंगलोर (कन्नड़ संस्करण)	तं चेव झाहि तं चेय	612
12.	वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी	तं चेव झाहि तं चेय	346
13.	कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली	चेदयहि झायहि तं चेव	295
14.	कलकत्ता प्रकाशन	वेदयदि झायहि तं चेव	594
15.	पं० गजाधरलाल जी का सम्पादन (सन् 1914)	वेदयदि झायहि तं चेव	207
16.	मूल ताड़पत्रीय प्रति	चेदयहि झायहि तं चेव (गाथांक	436)

अन्त मे— दोनों पाठों का विवरण एवं प्रमाणों का ऊपर प्रस्तुतीकरण किया। विद्वानों से निवेदन है कि दोनों के अनुसार अन्वय करके देखें; तथा जो पाठ उचित लगे, उस पर हमें भी लिखें। मात्र पूर्वाग्रह या दुराग्रह से ग्रस्त होकर प्रवृत्ति न करें, क्योकि दुराग्रही व्यक्ति का उपचार बड़े से बड़ा विद्वान् भी नहीं कर सकता है—

"दुराग्रह-ग्रहग्रस्ते विद्वान् पुंसि करोति किम्।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः।।" —*(जयसेनकृत 'धर्मरत्नाकर')*

अर्थ—दुराग्रहरूपी ग्रह से ग्रसित व्यक्ति के (हित के) लिए विद्वान् पुरुष भी क्या कर सकता है? काले पाषाणखण्ड को निर्मल करने के लिए तो मेघों की प्रचण्ड जलधारा भी समर्थ नहीं है।

★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐतिहासिक मूल्य की एक अप्रकाशित दुर्लभ पाण्डुलिपि

—प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

विश्व वाङ्मय में मध्यकालीन अपभ्रंश-साहित्य का कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व रहा है। यह कहते हुए अत्यन्त गौरव का अनुभव होता है कि वही एक ऐसा अनोखा साहित्य है, जो सर्वांगीण-साहित्य की कोटि में आता है। क्योंकि उसमें समकालीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, लोकजीवन, समाज एवं परिवार के विविध रूप, लोक एवं ग्राम्य जीवन के विविध राग-रंग तथा साहित्य की प्राय: समस्त विधाओं के साथ-साथ समकालीन भाषा के जीवन्त रूप उसमें उपलब्ध होते हैं। देहली-दीपक-न्याय की लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाले इस साहित्य के माध्यम से जहाँ हम अतीत की झाँकी ले सकते हैं, वहीं उसमें वर्तमान के लिए पथनिर्देश भी खोज सकते हैं और उन्हीं के आधार पर भविष्य की रूपरेखाएँ भी चित्रित कर सकते हैं। यही कारण है कि भारत में आने वाले जितने भी मध्यकालीन विदेशी पर्यटक रहे, उनमें से अधिकांश ने अपभ्रंश (सचित्र एवं सामान्य) पाण्डुलिपियों के प्रति अपनी विशेष जिज्ञासा प्रदर्शित की। साथ ही अन्य प्राच्य भारतीय पाण्डुलिपियों, जिनमें प्राकृत एवं संस्कृत की दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ भी थीं; उनके प्रति अपनी विशेष जिज्ञासा प्रकट की और यहाँ से उन्हें बाँधकर साथ में लेते गए। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण जर्मनी, फ्राँस, नेपाल, तिब्बत एवं रूस के वे प्राच्य शास्त्र-भाण्डार है, जहाँ वे आज भी सुरक्षित है। **मूलाचार** एवं **सिरिवालचरिउ** (रइधू कृत) आदि की प्राचीनतम पाण्डुलिपियों की विदेशों में उपलब्धि की चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वी० राघवन् के सर्वेक्षण के अनुसार इस समय लगभग पचास हजार से भी अधिक भारतीय प्राचीन एवं मध्यकालीन पाण्डुलिपियाँ विदेशी शास्त्रभण्डारों से सुरक्षित हैं, जो प्राय: अप्रकाशित हैं और जिनका पूर्ण सूचीकरण, मूल्यांकन आदि अभी तक नहीं हो पाया है। उनमें अनेक जैन पाण्डुलिपियाँ भी हैं। बहुत सम्भव है कि अद्यावधि अनुपलब्ध घोषित ग्रन्थराज **गन्धहस्तिमहाभाष्य** एवं अन्य अनेक ग्रन्थरत्न भी विदेश के किन्हीं प्राच्य शास्त्रभाण्डारों में छिपे पड़े हों, तो कोई असम्भव नहीं।

अपभ्रंश की पाण्डुलिपियों विशेष महत्वपूर्ण इसीलिए मानी गईं क्योंकि उनके लेखकों ने अपनी-अपनी रचनाओं में आत्मपरिचय, समकालीन ऐतिहासिक, राजनैतिक घटनाओं तथा सामाजिक तथा "सांस्कृतिक गतिविधियों का तथ्यमूलक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आँखों देखा परिचय प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्त्ती साहित्य एवं साहित्यकारों के नामोल्लेख कर साहित्यिक इतिहास के लेखक के लिए भी उन्होंने प्रचुर सामग्री की है। इन उल्लिखित बहुमूल्य रचनाओं में से आज अनेक रचनाएँ अनुपलब्ध अथवा दुर्लभ भी है और इस कारण हमारे इतिहास की अनेकविध महत्वपूर्ण सामग्री लुप्त-विलुप्त हो चुकी है।

वर्तमान में ऐतिहासिक महत्त्व की एक अपभ्रंश पाण्डुलिपि उपलब्ध है, जिसका नाम है **पासणाहचरिउ** (पार्श्वनाथचरित)। भारतीय इतिहास, विशेषतया दिल्ली नगर के इतिहास के सौभाग्य से वह काल-कवलित होने से बच गई हैं। उसके लेखक हैं— हरियाणा निवासी सिद्धहस्त **महाकवि विबुध श्रीधर** (13 वीं सदी)।

प्रस्तुत ग्रन्थ की 12 सन्धियों के कुल 238 कड़वकों में कवि ने महाकाव्य-शैली में पार्श्वनाथ का मर्मस्पर्शी सरस एवं सुन्दर वर्णन किया है। भाषा, भाव, शैली, दस एवं अलंकार-सभी दृष्टियों से तो यह ग्रन्थ अनुपम है ही, उसमें उपलपब्ध विस्तृत प्रशस्तियाँ भी उपलब्ध हैं, जिनसे 11-12वीं सदी के दिल्ली-नगर के प्रामाणिक इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है। उसकी कुछ विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(1) उक्त ग्रन्थ की आदि एवं अन्त की विस्तृत प्रशस्तियों में 13वीं सदी की दिल्ली का आँखों देखा वर्णन बड़ा ही रोचक बन पड़ा है। ग्रन्थ-रचना के समय तक दिल्ली में कुतुबमीनार का नामोनिशान भी न था। वहाँ पर था एक गगनचुम्बी कीर्तिस्तम्भ, जिसे दिल्ली शाखा के तोमरवंशी राजा अनंगपाल तृतीय (10-11वीं सदी) ने हम्मीर वीर जैसे दुर्दान्त शत्रुओं पर अपनी पराक्रमपूर्ण विजयों के स्मृति-चिन्ह के रूप में बनवाया था।

उक्त **'पासणाहचरिउ'** के एतद्विषयक "गयणमंडलालग्गु-सालु" नामक सन्दर्भ का विशद् विवेचन डॉ० हरिहरनिवास द्विवेदी कृत "कीर्तिसतंभ बनाम कुतुबमीनार" नामक ग्रन्थ में किया गया है। इतिहास-प्रेमियों को उनका वह खोजपूर्ण ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए। उस ग्रन्थ में डॉ० द्विवेदी जी के विशेष अनुरोध पर तथा उनके तथ्यों के समर्थन में एक परिशिष्ट के रूप में हमने (डॉ० राजाराम ने) भी उक्त पासणहचरिउ के मूलांशों को हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया है।

(2) पा० च० ही प्रशस्ति में 13वीं सदी की दिल्ली के सुप्रसिद्ध महासार्थवाह अग्रवाल कुलोत्पन्न साहू नट्टल का विशेष वर्णन किया गया है, जिनका देश-विदेश में व्यापार तथा आयात-निर्यात का लम्बा-चौड़ा कारोबार चलता था। उक्त राजा अनंगपाल तोमर के वे विश्वस्त सलाहकार माने जाते थे।

नट्टल ने उत्तुंग आदिनाथ भगवान का मन्दिर बनवाकर उसके गगनचुंबी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिखर पर पंचरंगी झण्डा फहराया था। घनिष्ठ परिचय होने के बाद विबुध श्रीधर की प्रेरणा से नट्टल ने उस मन्दिर में चन्द्रप्रभु स्वामी की एक सुन्दर मूर्ति भी स्थापित कराई थी। दुर्भाग्य से वर्तमान में न तो वह आदिनाथ मन्दिर ही उपलब्ध है और न वे कलापूर्ण तीर्थंकर मूर्तियाँ ही। विशेष अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि वह आदिनाथ स्वामी का मन्दिर वर्तमान कुतुबमीनार के आसपास ही बना हुआ था और 13वीं सदी में दिल्ली की मुख्य बस्ती भी उसी के आसपास बसी हुई थी। केन्द्रिय स्थल होने से उक्त राजा अनंगपाल ने अपना कीर्तिस्तम्भ भी वहीं बनवाया था। किन्तु आज वह कीर्तिस्तम्भ भी अपने पूर्व रूप में उपलब्ध नहीं।

(3) उक्त ग्रन्थी की प्रशस्ति से विदित होता है कि 13वीं सदी में दिल्ली का नाम ढिल्ली था। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराजरासों' का अध्ययन आवश्यक है। इस विषय पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित अपने 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रस्तावना में मैंने विस्तृत चर्चा की है, जिसने ग्वालियर के वयोवृद्ध इतिहासकार डॉ० हरिहरनिवास द्विवेदी को मन्त्रमुग्ध कर दिया था। प्रकाश्यमान 'पासणाहचरिउ' की भूमिका में उसकी विस्तृत चर्चा की जायगी।

(4) उक्त ग्रन्थ के लेखक विबुध श्रीधर ने अपनी प्रथम अपभ्रंश रचना— "चंदप्पहचरिउं' के प्रणयन में कठोर परिश्रम किया था। उसकी परिसमाप्ति के बाद वे कुछ परिवर्तन तथा विश्राम करने के निमित्त यमुना नदी पारकर भ्रमणार्थ ढिल्ली आए थे, जहाँ उनकी पहिली भेंट तोमर राजा अनंगपाल की राज्यसभा के सम्माननीय सदस्य अग्रवाल कुलोत्पन्न अल्हण साहू से हुई। साहू अल्हण प्रथम भेंट में ही कवि के व्यक्तित्व से प्रभावित हो गए और उन्होंने विबुध श्रीधर को जेजा साहू के तृतीय पुत्र तथा अपने घनिष्ठ मित्र नट्टल साहू से भेंट करने की प्रेरणा की। नट्टल से मिलकर कवि बहुत ही प्रभावित हुआ।

(5) कवि ने नट्टल की प्रार्थना पर उक्त आदिनाथ मन्दिर के शान्त भव्य जिनालय में बैठकर ही वि० सं० 1189 में उक्त "पार्श्वनाथ चरित'' की रचना समाप्त की थी। कविकृत 6 रचनाओं में से उक्त रचना का रचनाक्रम दूसरा था।

उक्त महत्वपूर्ण पासणाहचरिउ का सम्पादन, हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन में सन् 1975-76 के आसपास तैयार कर चुका था। उसी समय कुछ प्रकाशन संस्थाओं से मैंने उसके प्रकाशन-हेतु बारम्बार आरजू-मिन्नतें भी की थीं, किन्तु उसमें मुझे कहीं कुछ भी सफलता नहीं मिल सकी थी। हताश होकर मैंने उसे गठरीबन्द कर एक कोने में रख दिया था। किन्तु मेरा मन इस वेदना से भरा हुआ रहता था कि जो समाज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिवर्ष करोड़ों रूपए मन्दिर, मूर्ति बनवाने, प्रतिष्ठा कराने तथा गजरथ चलाने में व्यय करती है; उसके पास दुर्लभ जिनवाणी के प्रकाशन-हेतु द्रव्याभाव है। समाज में यह कैसा विरोधाभास चल रहा है?

संयोग से 24/6/95 को जब मैं कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज के सान्निध्य में बैठा था और उस समय जैन विद्या के दुर्लभ अप्रकाशित ग्रन्थें के काल-कवलित होने की संभावनाओं पर जब चर्चा हो रही थी, तभी उनके प्रकाशन की व्यवस्था न हो पाने के कारण आचार्यश्री अत्यन्त गम्भीर हो उठे थे।

संयोग से उसी समय की महावीरजी तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्रीमान् एन०के० सेठी (आई०ए०एस०) साहब, आचार्यश्री के दर्शनार्थ पधारे। वार्तालाप के क्रम में आचार्यश्री ने उनसे उक्त "पार्श्वनाथ चरित" के प्रकाशन की चर्चा की। तब उन्होंने श्री महावीर जैन शोध संस्थान, श्रीमहावीर जी (राज०) की ओर से उसके प्रकाशन की तत्काल स्वीकृति प्रदान कर दी। सचमुच ही श्रीमान् सेठी जी की यह दुर्लभ जैन पाण्डुलिपि के उद्धार की भावना, जिनवाणीभक्ति एवं साहित्यिक अभिरुचि समाज के लिए एक संरचनात्मक प्रेरक उदाहरण है।

लगभग 20 वर्षों के बाद मैंने गठरीबन्द उक्त ग्रन्थ की प्रेस कापी जब खोलकर देखी, तो वह धूमिल हो चुकी थी। उसका कागज सड़ गल गया था। कहीं-कहीं तो उसका पढ़ पाना भी कठिन हो चुका था। अत: अब उसका पुनर्लेखन-कार्य प्रारम्भ कर दिया है तथा उसके पूर्ण होने पर शीघ्र ही उसे प्रकाशनार्थ भेज दिया जाएगा। ★★

'विस्फुरच्चित्प्रकाशाम्भोधारया क्षालितेव या।
विद्यानन्दमयी नित्यं विजयेत् सरस्वती।।'

अर्थ—जो निरन्तर स्फुरायमान चैतन्य-प्रकाशरूपी प्रचण्ड जलधारा के द्वारा मानो प्रक्षालित है, – ऐसी विद्यानन्दमयी सरस्वती की नित्य विजय हो (उसका यश:पुञ्ज सर्वदा दिग्दिगन्त में प्रसरित हो)।

—श्री मदन शर्मा 'सुधाकर' कविरत्नम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विदेशों में (संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश भाषा की) सुरक्षित पाण्डुलिपियाँ

—डॉ० राजाराम जैन

रूस के प्राच्य शास्त्रभण्डारों में—

1. आराधना (शिवकोटि कृत)। 2. उपासकाचार (पूज्यपाद कृत) गृहस्थ धर्म का वर्णन करने वाला ग्रन्थ। 3. पदम-रामपुराण (सोमसेन कृत)। 4. सम्यक्त्वकौमुदीकथा (दो प्रतियाँ)। 5. जैन पूजा विधि। 6. भावी जिन तथा महावीर की स्तुतियाँ। 7. प्रश्नोत्तररत्नमाला (दिवेन्द्र की टीका संहित)। 8. सामायिक (सं० प्रा० की प्रार्थनाओं का संग्रह)। 9. त्रैविध गोष्ठी— विद्वान् ब्राह्मणों को जैनधर्म में दीक्षित करने के लिए उनसे शास्त्रार्थ का निर्देश देने वाली मुनिसुन्दरकृत सुन्दर रचना। 10. आचार प्रदीप— (राजशेखर कृत) जैन नीतिशास्त्र पर आधारित, जिसमें लोकगाथाओं जैसी अनेक सुन्दर गाथाएँ वर्णित हैं। 11. सुभाषितार्णव—अद्वितीय वैज्ञानिक महत्व की दुर्लभ हस्तलिखित प्रति, जिसमें 1000 से अधिक श्लोक हैं। 12. चित्रसेन पद्मावतीचरित (नयविजयकृत जैन काव्य)। पद्मावती की सुविख्यात कथा का 536 श्लोकों में जैन रूपान्तर। सुप्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसीकृत "पदमावत" की कथा का मूलस्रोत-ग्रन्थ।

शौरसेनी प्राकृत-साहित्य प्राच्य फारसी भाषा में

जैन-साहित्य केवल प्राच्य भारतीय भाषाओं में ही नहीं लिखा गया अथवा उसमें उसका अनुवाद नहीं किया गया बल्कि उसकी गुणवत्ता एवं सार्वजनिकता के कारण प्राच्य विदेशी भाषाओं में उनका पाया जाना अधिक सम्भव है। यह तो सर्वविदित ही है कि जैनदर्शन एवं जैन कथाओं ने समस्त विश्व को आकर्षित एवं प्रभावित किया है।

जर्मन विद्वान् प्रो० जॉन हर्टेल के अनुसार जैन कथाग्रन्थ—'पंचक्खाण' कुछ परिवर्तनों के अनुसार कैसे 'पंचतंत्र' बन गया, इस पर उन्होंने अपने ग्रन्थ की एक प्रस्तावना में अच्छा प्रकाश डाला है। विश्व की लगभग 14 भाषाओं में उसका अनुवाद प्रकाशित हुआ और उसने योरोपीय एवं मध्य एशियाई कथा-साहित्य को प्रभावित किया। यहाँ हम अपने शोधार्थियों तथा जिज्ञासु पाठकों के लिए फारसी में अनूदित एवं विरचित साहित्य की जानकारी दे रहे हैं, जो निम्न प्रकार है :—

फारसी-अनुवाद—1. पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्द) 2. गोम्म्टसार कर्मकाण्ड—(सि०च० आचार्य नेमिचन्द) अनुवादक—मुंशी दिलाराम (समय अज्ञात) 3. फारसी में विरचित 'ऋषम स्तोत्र'— जिन प्रभसूरि (14वीं सदी)

(प्राकृतविद्या के अगले अंक में संस्कृत व्याख्यासहित प्रकाश्य) ★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मांडू का संगीतज्ञ 'मंडन'

—डॉ० अभय प्रकाश जैन

जैन संस्कृति की उज्ज्वल परंपरा ने शील, संयम, तप और शौच को चारित्र में परिवर्तन कर मानव-जीवन को युगों-युगों से विभूतिमय किया है; आचार-विचार के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किए हैं। मानव को मानव समझने विवेक जनमानस में अंकुरित किया है और अखिल मंगलमय अहिंसामूलक विश्वमैत्री का संदेश दिया है। समय-समय पर आने वाले दुरन्त उपसर्गों को पारकर आज भी वह साहित्य, दर्शन, कला, संगीत, न्याय, गणित, पुरातत्व और अनेकानेक विषयों की पुरासंपदा अपने में संजोये हुए हैं।

इस शोध आलेख में मंडन के व्यक्तित्व कृतित्व पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। मुगलकाल में मांडवगढ़ का प्रधानमंत्री मंडन था। उन्होंने संगीत और ललित कला पर कई ग्रंथ लिखे हैं, लेकिन अभी तक वे सभी अप्रकाशित हैं। उनके काल में अपभ्रंश शैली के अनेक ग्रंथों में चित्रों की रचना की गई; ये पोथियाँ पाटन, खंभात, बड़ौदा और जैसलमेर के ग्रंथाालयों तथा अमेरिका के बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सन् 1305 में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के एक सरदारं आइनुल मुल्क ने मांडू पर अधिकार कर लिया था। तब से लेकर पर्याप्त समय तक मांडू दिल्ली सल्तनत के अधीन रहा। सन् 1405 से 1432 तक इस किले पर सुल्तान आलमशाह का राज्य रहा। इस सुल्तान के प्रधानमंत्री मंडन थ) जो जैन मंतावलम्बी थे। मंत्री होने के साथ-साथ वे उद्भट विद्वान् भी थे। डॉ० एच०आर० कापड़िया के गुजराती भाषा के ग्रंथ 'जैन साहित्य के इतिहास' में मंडन के बारे में लिखा गया है कि 'व्याकरण में जागृत नाटक एवं अलंकार में विशेषज्ञ संगीत में अतुल प्रवीण गम्भीर शास्त्रयुक्त मंडन विराजता है। मंडन के पितामह का नाम झंझण था वे सौन गिरान्वय के मंत्री कहलाते थे इनके छह पुत्र थे। द्वितीय पुत्र बाहड़ का छोटा पुत्र मंडन था। बाहड़ भी मंडन की भाँति संघपति था। महेश्वर कवि के काव्य मनोहर ग्रंथ में मंडन के सम्बन्ध में लिखा गया है कि 'वह व्याकरण-अलंकार-संगीत, नृत्य, नाट्य तथा अन्यान्य शास्त्रों का महान विद्वान् था। मंडन विद्वान एवं गुणीजनों से बहुत स्नेह रखता था। उसके राजप्रासाद में उत्तम कवि श्रेष्ठ काव्य प्रबन्ध, प्राकृत भाषा कथा आदि पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रस्तुतीकरण करते थे। नैयायिक वैशेषिक, भट्ट, वेदांत, सांख्य प्रभाकर तथा जैन तथा बौद्ध मत के महान् विद्वानों की प्रायः गोष्ठी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ करती थी। गणित, भूगोल, शकुन, प्रश्नभेद, मुहूर्त्त और वृहद्जातक में निष्णांत, असाध्य, साध्यादि रसक्रियाओं में निपुण वैद्य, साहित्यविद् नामक नायिकाभेद के पारखी इनकी सभा में उपस्थित रहते थे। उत्तमोत्तम गायक, गायिकाओं, नर्तक, नर्तकियों, गायन गोष्ठी, वीणावादन गोष्ठी तथा नृत्य, नाट्य प्रस्तुत किया जाता था। मंडन की संगीत विद्वता से सभी कलावंत मंत्रमुग्ध तथा अवाक् रह जाते थे। मण्डन खरतरगच्छीय जैन था।

मंडन संगीत एवं कला के महत्वपूर्ण ग्रंथकार रहे हैं, इनका 'संगीत मंडनग्रंथ' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उनके काव्यमंडन, श्रृंगार मंडन, सारस्वत मंडन, मंडन कादम्बी दर्पण, चंपूमंडन अलंकार मंडन, चन्द्रविजय प्रबन्ध आदि कई ग्रंथ हैं। पाटण के प्राचीन ग्रंथागार में हस्तलिखित 'संगीत मंडन' की प्रति उपलब्ध है। इस ग्रंथ ही रचना 1470 में हुई थी।

'संगीत मंडन' ग्रंथ में द्वितीय एवं तृतीय परिच्छेदों में मार्ग व देशी तालों और पाट वर्णों का विशद विवेचन हुआ है। स्वरकरण, पातकरण, बन्धकरण, चित्रकरण, तेलकरण, वर्त्तनी, विवर्त्तनी एलालक्षणम्, झोम्बडलक्षणम्, सुधासूढत्रृ, ध्रुवालक्षणम् मंठ एवं प्रतिमंठ, निस्सारक, एकताली आदि का वर्णन इसमें उपलब्ध है। तृतीय परिच्छेद में मार्ग व देशी तालों का विवरण है, किन्तु उनके पाठ उद्धृत नहीं हैं। इस परिच्छेद के अंत में मंडन ने अपना नाम कविराज गजांकुश लिखा है। चतुर्थ परिच्छेद में नाट्य एवं नृत्य का वर्णन करने से पूर्व पताका प्रस्तार, नष्टोद्दिष्ट आदि ताल का शास्त्रीय निरूपण किया है। संगीत दीपक, रत्नावली, संगीत सह पिंगल आदि ग्रंथों में मंडन का उल्लेख है।

'संगीतमंडन' में ताल के विभिन्न अवयवों का जैसे द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, कला, प्रस्तार, विरामादि, कालमान, ग्राय, मूर्च्छना, गायन के विभिन्न प्रकार, गान्धार का स्वरूप, सम के आठ गुण, स्वरमंडल साधना, ताल, लय गमक, मीड, प्रथम अध्याय यात्रा आदि का द्वितीय अध्याय के श्लोक क्रमांक से 7 तक 17 तक वर्णन हुआ है। श्लोक क्रमांक 18 से 21 तक सम, अतीत अनागत, प्रस्तार, आदि का विवरण है, तदुपरांत श्लोक क्रमांक 22 से 24 तक प्रस्तार विधियों का उल्लेख है।[5] (दिखें संगीत मंडन हस्तलिखित प्रति के अंश।)

मंडन के संगीतज्ञ होने के तथ्य डॉ० परांजये ने अपने शोध ग्रंथ 'भारतीय संगीत का इतिहास' डॉ० अरूण कुमार सेन ने अपने शोध ग्रंथ 'भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन' में मिलते हैं। डॉ० एच०एल० कापड़िया के ग्रंथ' 'जैन साहित्य में संगीत उल्लेख एवं ग्रंथों' गुजराती में मंडन का उल्लेख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ० उमाकांत शाह ने 'संगीतोपनिषत्सारोद्धारं' की प्रस्तावना में पृष्ठ 12/12 में मण्डनकृत ग्रंथावली का परिचय दिया है। संगीत मंडन, मंडन, संगीत रत्नावली, संगीत सहपिंगल का संदर्भ "जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास'' में भी मिलता है।

संगीत मंडन में नादोत्पत्ति की विधि निम्न प्रकार निरूपित की है। 'संगीत समयसार' में भी यही विधि है।

नादात्मानस्त्रयो देवा ब्रहमा-विष्णु-महेश्वरा। नामौतद् ब्राह्मण: स्थान ब्रह्मग्रन्थिश्चयोमत: ।। प्राणस्तन्मध्यवर्त्ती स्यादग्ने प्राणात् समुद्भव: । अग्नि मारुतयोर्योगाद भवेभादस्य संभव: । नकार प्राण इत्युक्तो दकारो वह्निरुच्यते ।। अर्थाद्रयं नाद शब्दस्य संक्षेपात् परिकीर्तितिः । स च पंचविधो नादो मतंगमुनि सम्मत: ।।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों नारात्मा हैं। नाद उत्पन्न होने की विधि यह है नाभि में ब्रह्म स्थान है, जिसे ब्रह्म ग्रंथि माना गया है। उस ब्रह्म ग्रंथि में केन्द्र प्राण की स्थिति है उस केन्द्र प्राणबिन्दु से अग्नि की उत्पत्ति होती है। जब अग्नि और मारुत का संयोग होता है, तब नाद उत्पन्न होता है। ऋषिमंडल स्तोत्र में नादश्चंद्र समाकारों विंदुर्नील समप्रभ कलारुण समा कातंत्र स्वर्णाभ सर्वतो मुख: संगीत चेतना के उद्ध र्वारोहण का एक महत्वपूर्ण उपाय है। अन्तर्यात्रा इसमें चित्त को शक्ति केन्द्र से सुषम्ना के मार्ग से ज्ञान केन्द्र तक ले जाते हैं। इससे ऊर्जा का प्रवाह उर्ध्वशामी होता है तथा इसकी बार-बार आवृत्ति करने से नाड़ी तंत्र की प्राणशक्ति विकसित होती है। राह संगीत ध्यान की अर्न्तयात्रा है। इस पथ की यात्रा वही कर सकता है, जिसने तन्मयता प्राप्त कर ली हो। संगीत साधना के लिए शरीर आधार है। शरीर को साधे बिना संगीत साधना/आत्मसाधना संभव नहीं है।

भारतीय संस्कृति व प्राचीन इतिहास के मूल्यांकन में जैन स्त्रोतों जैसे प्राकृत, अपभ्रंश, शिलालेख एवं अन्य सांस्कृतिक पक्षों की उपेक्षा हुई है। जैन कला, स्थापत्य, मूर्तिकला, संगीत ने भारतीय संस्कृति को विशेष तौर पर मालवा ने एक नई दृष्टि दी है। मंडनकृत ग्रंथों पर उनके विविध, व बहुआयामी शोध क्षेत्र प्रतिपादित हो सक्ते हैं। उनके द्वारा रचित सभी ग्रंथ अप्रकाशित हैं और शोधार्थियों की बाट जोह रहे हैं।

सन्दर्भ सूची–

1. जैन साहित्य नं संगीत उल्लेख अनेग्रंथो, गुजराती लेखक डॉ० एच०एल० कापड़िया।
2. संगीतोपनिषत् सारोद्धार-सुधाकलश —डॉ० उमाकांत शाह, प्र०; गा० ओरि० सीरीज, बड़ौदा।
3. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, डॉ० अरुण कुमार सेन– म०प्र० ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
4. भारतीय संगीत का इतिहास डॉ० शरच्चंद्र पराञ्जपे, चौखम्बा प्रकाशन।
5. हस्तलिखित संगीत मंडन के कुछ दुर्लभ अंश।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म नास्तिक नहीं

> श्री हरबर्ट वारन नामक जैनधर्म के मर्मज्ञ विदेशी विद्वान् ने आज से लगभग 80 वर्ष पूर्व सभी दर्शनों का गूढ़ अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला था कि 'जैनधर्म नास्तिक नहीं है।' श्री वारेन ने '**Jainism not an Atteism**' —शीर्षक से एक लेख अंग्रेजी में लिखा था, जो कि भारत में तथा विदेशों में 'जैनधर्म की परमात्मा विषयक मान्यता को स्पष्ट करने के लिए बहुत चर्चित हुआ था। उसी लेख का हिन्दी-रूपान्तर प्रख्यात विचारक श्री मुन्शीलाल जी, एम०ए० ने 'जैनधर्म नास्तिक नहीं' शीर्षक से किया था, जो कि अविकलरूप से यहाँ प्रस्तुत हैं। *—सम्पादक*

जो लोग इस सृष्टि का कर्ता या स्रष्टा ईश्वर को मानते हैं, वे कभी-कभी जैन धर्म को नास्तिक समझने लगते हैं; परन्तु जैनियों को नास्तिक कहना कदापि उचित नहीं। जैनधर्म में "गॉड" (परमात्मा) की सत्ता का निषेध नहीं किया गया है। जैनशास्त्रों में गॉड का स्वरूप बतलाया गया है, परन्तु उसमें और अन्य मतों की धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों में उसका जो निरूपण किया गया है, उसमें बड़ा भेद है, बड़ा भेद यह है कि अन्य मतों की पुस्तकों में गॉड को स्रष्टा और शास्ता माना है, परन्तु जैन पुस्तकों में ऐसा नहीं माना। जैन धर्मानुसार "गॉड" सर्वज्ञ और सर्वानन्दमय है तथा अनन्त शक्तिसम्पन्न है। वह एक शुद्ध और सिद्ध आत्मा है और किसी भी भौतिक शरीर से रहित है। वह अविनाशी और अपरिवर्तनीय आत्मा है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता और न वह अपने पद से च्युत होकर फिर कभी भ्रष्ट हो सक्ता है।

किसी वस्तु की सत्ता को न मानना और उस वस्तु में किसी विशेष गुण का न मानना —ये दोनों बातें एक नहीं हैं। जबकि जैनधर्म में आत्मा की सत्ता को शुद्ध और परिपूर्ण अवस्था में माना है, तो फिर जैन धर्म को उन लोगों की श्रेणी में नहीं रख सकते, जो आत्मा को पुद्गल या शरीर से भिन्न नहीं मानते। पवित्र (शुद्ध) आत्मा और गॉड वस्तुत: एक ही वस्तु है और प्रत्येक विशेष आत्मा का अन्तिम प्रयोजन शुद्ध और सिद्ध होना है। या यह कहो कि प्रत्येक आत्मा का उद्देश्य "गॉड" बन जाना है, जिसमें परमात्मत्व के सम्पूर्ण गुण हैं और जैन धर्म के अनुसार इन गुणों में उत्पन्न करने और शासन करने के गुण अनुगत नहीं हैं। सच पूछो तो नास्तिक वे हैं जो आत्मा का होना नहीं मानते और यह कहते हैं कि आत्मा पुद्गल से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। उनकी ऐसी मान्यता है कि लोग जिसको आत्मा कहते हैं, वह केवल पुद्गल के परमाणुओं के विशेष संयोग का फल या प्रादुर्भाव है और कुछ नहीं हैं। और जब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस विशेष संयोग का विघटन हो जाता है, तब आत्मा नष्ट हो जाता है।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से चला आया है। और आत्मायें अनादिकाल से ही साधारण शरीर-सम्बन्धी सांसारिक अवस्था से निकलकर शुद्ध अवस्था में आने का प्रयत्न कर रही हैं और सदा ऐसा ही प्रयत्न करती रहेंगी, परन्तु वे (मुक्त आत्मायें) इसे परमात्मत्व की अवस्था से फिर साधारण शरीरी आत्माओं में परिवर्तन नहीं करतीं हैं।

साधरणतया आत्मा अपने वास्तविक स्वभाव को न जानकर सदा से अनादिकाल से राग और द्वेष में आसक्त हो रहा है और इस आसक्ति के कारण वह कभी भी शान्त नहीं है। इस राग और द्वेष से छूट जाने पर आत्मा शान्त और स्वस्थचित्त हो जाता है और जब आत्मा इन बाह्य और कृत्रिम व्यवसायों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाता है; तब वह अपने वास्तविक जीवन में रहकर सर्वज्ञ बन जाता है, सदा आनन्दमय और अविनाशी हो जाता है। किं बहुना, वह एक "गॉड" या परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) बन जाता है। इसप्रकार जैनधर्म में गॉड की सत्ता या अस्तित्व का निषेध तो नहीं है, परन्तु वह यह नहीं मानता है कि परमात्मत्व में अन्य वस्तुओं और प्राणियों या जीवों को उत्पन्न करने और दण्ड या पारितोषिक देकर उन पर शासन करने का गुण है।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि परमात्मा में संसार के रचने और शासन करने के गुण आरोपण करने से उसके इतर गुणों में तो बिगाड़ या दोष नहीं आता अथवा परमात्मा में इन गुणों के मानने से कई प्रकार की विरोधोक्तियाँ और दूषण आते हैं और वे मनुष्य के सदाचारी बनने और मोक्ष प्राप्त करने में सहकारी या सहायक नहीं होते।

जो लोग "गॉड" को स्रष्टा मानते हैं, वे विशेषत: दो श्रेणियों में विभक्त हो सक्ते हैं—

1. वे लोग जो तीन वस्तुओं को शाश्वत व अनादि मानते हैं अर्थात् गॉड, आत्मा और पुद्गल और यह कहते हैं कि "पिछली दो वस्तुओं के द्वारा 'गॉड' जगत् को बनाता है" और

2. वे लोग जो यह मानते हैं कि 'गॉड' ही शाश्वत या अनादि है और अन्य कोई वस्तु अनादि नहीं। इस श्रेणी के दो भेद हो सक्ते हैं (क) वे लोग जो यह मानते हैं कि 'गॉड' ने जगत् को 'नहीं' (शून्य) से रचा अर्थात् पहले कुछ नहीं था फिर सब कुछ कर दिखाया और (ख) वे लोग जो यह मानते हैं कि 'गॉड' ने जगत् को अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भीतर से उत्पन्न कर दिया।

वे लोग जो यह मानते हैं कि 'गॉड', पुद्गल और आत्मा अनादि है और गॉड जगत् की पुद्गल और आत्माओं के द्वारा बनाता है, इससे यह स्पष्ट है कि हम पुद्गलों और आत्माओं और उनके गुणों व अवस्थाओं को मानते हैं; तो फिर वे (गुण और अवस्थायें) आप ही अपने पारस्परिक सम्मेलन और समाघात से जगत् को बनाने में सर्वथा समर्थ है और 'गॉड' के संयोग की इसमें कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पुन: परमात्मा में सिद्ध या सम्पूर्णता और आनन्द का होना आवश्यक है और इसप्रकार जब परमात्मा सिद्ध या सम्पूर्णता और आनन्दमय ठहरा, तब उसमें संसार के रचने की इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि संसार के रचने की इच्छा होने से परमात्मा में एक प्रकार की कमी पाई जाती है और कमी परिपूर्णता (सिद्धि) में परस्पर विरोध है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा को स्रष्टा मानने से परमात्मा में परिपूर्णता (सिद्धि) और आनन्द के गुण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उन गुणों का अभाव मानना पड़ता है।

लोग यह मानते हैं कि साधारण जीवित प्राणी दु:ख और कष्ट भोगते हैं और संसार को दिए हुए परमात्मा के धर्मोपदेशों पर चलने से ही जीव इन सांसारिक दु:खों से मुक्त हो सकता है, परन्तु पहले जीवों को रचना या बनाना और फिर उनको सुसार के दु:खों और कष्टों में फंसाना और फिर उन्हें ऐसा उपदेश देना जिस पर चलकर वे अपने आपको इन दु:खों और कष्टों से मुक्त कर सकें; भला इसमें क्या चतुराई या बुद्धिमता है। एक सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान जो पहले तो एक वस्तु को असमर्थ या अपर्याप्त अवस्था में रखे और फिर उसके सुधारने या उन्नति करने के नियम बतावे, उसे बुद्धिमान और हितकारी नहीं कहा जा सकता।

पुन: सर्वज्ञ को यह परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है कि वह किसी व्यक्ति या वस्तु को देखे कि वह क्या करता है और यदि यह कहा जाये कि 'गॉड' ने जीवों को संसार में यह देखने के लिए रचा था कि उनमें कौन से जीव मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं और कौन-कौन से नहीं, तो इससे परमात्मा सर्वज्ञ नहीं ठहरता।

परमात्मा कसे स्रष्टा मानना साधुता या श्रेष्ठता के विरुद्ध है; क्योंकि जब एक सम्पूर्णतया श्रेष्ठ साधु को स्रष्टा माना जाये तो उसकी रची हुई सृष्टि में कोई दोष या दूषण या मलिनता नहीं होनी चाहिए। कोई सांसारिक शास्ता यह नहीं चाहता कि उसके देश में बुरे कार्य किये जायें, परन्तु सांसारिक शास्ता सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं है और इसलिए वे ऐसे कार्यों को अपने देशों में होने से रोक नहीं सकते अर्थात् ऐसा उचित प्रबंध नहीं कर सकते कि ये कार्य उनके देश में होने ही न पावें; परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमात्मा को सम्पूर्णतया शक्तिमान हितकारी और सर्वज्ञ भी माना गया है, इसलिए यदि जगत् का कर्ता परमात्मा होता तो कोई दुष्ट कर्म न किये जा सकते; क्योंकि वह अपने रचे हुए जीवों को ऐसे कर्म करने की शक्ति न देता।

यही दशा शोक, दु:ख, रोग और दरिद्रता की है। यदि यह कहें कि दु:ख और रोग उन प्राणियों के ही बुरे कर्मों के फल हैं और यदि परमात्मा कर्ता समझा जाये जिसने लोगों को दुष्कर्म करने की शक्ति दी और फिर उन्हें उस शक्ति को काम में लाने के कारण दण्ड दिया, तो ऐसे परमात्मा में साधुता का अभाव है। क्योंकि कोई मनुष्य ऐसे सांसारिक पिता के विषय में क्या विचार करेगा, जिसने अंपने पुत्र को कोई बुरा कार्य करने में प्रवृत्त देखकर और उसे उस कार्य से रोकने में समर्थ होकर भी इस विषय में पहले से कोई प्रबंध नहीं किया, वरन् पीछे से (जब वह कार्य कर चुका) उस दुष्कर्म के बदले पुत्र को दण्ड दिया।

अब हम दूसरी बात पर विचार करते हैं कि 'गॉड' ही शाश्वत है और उसी ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा या अपने भीतर से बनाया।

जो लोग यह मानते हैं कि 'गॉड' ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा, क्या इस मत के समर्थन के लिए कोई प्रमाण या हेतु है, कोई प्रमाण या हेतु दिखाई नहीं देता। क्योंकि प्रकृति से ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता कि यह संसार शून्य से अस्तित्व में आया अर्थात् पहले कुछ भी नहीं था और गॉड ने उसे बना दिया। प्रकृति में कोई एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता या दीख पड़ता जहाँ 'नहीं' (शून्य) या अभाव या असत् से कोई वस्तु उत्पन्न हुई हो। प्रत्येक वस्तु जो हम देखते हैं उसकी कोई न कोई पूर्व अवस्था थी और हम ऐसी वस्तु नहीं देखते जिसका अभाव हो जाये। पदार्थ विज्ञान द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि शून्य से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और किसी वस्तु का सर्वथा अभाव भी नहीं हो सकता। यदि 'गॉड' ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा तो वह उसका सर्वथा नाश भी कर सकता है और इसका यह अर्थ होता है कि अस्तित्व-नास्तित्व में या सत्-असत् में परिवर्तित हो सकता है, इसलिए जिस 'गॉड' का हम इस समय विचार कर रहे हैं; उसकी पूजा करने वाले लोग एक ऐसे जीव की पूजा या आराधना करते हैं, जिसमें अनुपस्थित या अविद्यमान होने की भावी शक्ति या संभावना है। परन्तु "अस्तित्व" और "नास्तित्व" अथवा "भाव" और "अभाव" परस्पर विरुद्ध शब्द हैं और एक दूसरे में नहीं घट सकते। अभाव (असत्) भाव (सत्) नहीं हो सकता और न भाव (सत्) अभाव (असत्) हो सकता है। यह एक सर्वसाधारण बुद्धि और सहज ज्ञान का एक सामान्य तत्त्व है। इस प्रकार यह मत या सिद्धान्त कि 'गॉड' ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा और वह जब चाहे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
उसका सर्वथा नाश कर सकता है सर्व साधारण बुद्धि, सहजोपलब्ध तत्त्व पदार्थविज्ञान प्रमाण और प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, अर्थात् अयुक्ति सिद्ध और अप्रमाणिक है।

अब दूसरी बात यह रही कि गॉड ही शाश्वत है और उसने संसार को अपने भीतर से रचा है, अर्थात् उसने अपने आप ही संसार की आकृति या रूप ग्रहण कर लिया है। इस सिद्धान्त के मानने पर यह प्रश्न उठता है कि गॉड तो शुद्ध और परिपूर्ण जीव है, फिर उसने अपने आपको इस अशुद्ध और अपूर्ण संसार में किस प्रकार परिवर्तित किया? इसलिए या तो हम संसार के रचने का कार्य उस पर आरोपित नहीं कर सकते या यह मानना पड़ेगा कि अपवित्रता या अशुद्धता का अंकुर जो संसार में विद्यमान रहा है, वह सदा से गॉड में भी होना चाहिए। एक कठिनाई तो यह है। एक और दूसरी कठिनाई (दु:साध्यता) यह है कि एक चेतन द्रव्य का अचेतन हो जाना असम्भव है। संसार में जड़ अचेतन द्रव्य और ज्ञानमय चेतन द्रव्य दोनों हैं। परन्तु संसार में ज्ञानमय चेतन द्रव्य किसी जड़ अचेतन द्रव्य के कार्य को नहीं कर सक्ते और न ही उस रूप हो सकते हैं, इसलिए यह सिद्धान्त कि गॉड—एक ज्ञानमय चेतन द्रव्य ने बुद्धिरहित या जड़ भागों से मिले हुए संसार की आकृति ग्रहण करके संसार को रचा मानने योग्य नहीं है।

जो लोग यह मानते हैं कि "गॉड'' ही शाश्वत है और वह आप ही संसार की आकृति ग्रहण कर लेता है उनमें एक वेदान्ती भी है। इनका यह मत है कि "गॉड'' शुद्ध या ज्ञानरूप है और जब उसने संसार को रचा तो उसने अपना ऐसी वस्तु से संयोग किया जो जड़ अचेतन भासती है और जिसे अचेतन या जड़ कहते हैं। परन्तु यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह अचेतन या जड़ वस्तु जिससे कि ज्ञानमय चेतन द्रव्य का संसर्ग हुआ वह (जड़ अचेतन वस्तु) 'गॉड' से पृथक् और भिन्न वस्तु है या यह गॉड का ही एक गुण है। यदि यह कोई भिन्न (अलग) वस्तु है तो इस मान्यता में कि 'गॉड' एक ही शाश्वत वस्तु है, विरोध आता है या दूषण लगता है और अद्वैतवाद के स्थान में द्वैतवाद मानना पड़ता है। इसके विपरीत यदि वह जड़ वस्तु सदा से उसके (गॉड के) साथ रहती तो उसे (गॉड को) हम शुद्ध या ज्ञानरूप नहीं मान सकते। उसमें अचेतनता या जड़ता और अपवित्रता या अशुद्धता के भाग सदा ही से मिले हुए होने चाहिये। जैनधर्म में भी शुद्ध और परिपूर्ण ज्ञान का अचेतन और अशुद्धता से संयोग माना है, परन्तु भेद यह है कि वेदान्ती तो यह मानते हैं कि 'गॉड' ने किसी विशेष समय में इस अचेतन या जड़ वस्तु से अपना संयोग किया और इस प्रकार यह दृश्य संसार बन गया और जैनधर्म की मान्यता है कि यह शुद्ध चेतन और जड़ वस्तु जैसे अब मिले हुए हैं, ऐसे ही मिले हुए चले आ रहे हैं और इस प्रकार ये इस दृश्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार के कारण हैं। आत्मा और पुद्गल सामान्य जीवित प्राणी में वस्तुतः परस्पर संयुक्त हैं, परन्तु वे कभी अर्थात् किसी विशेष समय में संयुक्त नहीं हुए, वरंच सदा से ही या अनादिकाल से ही संयुक्त हो रहे हैं; इसलिए उनके संयुक्त होने का क्या कारण है— यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। क्योंकि कोई ऐसा समय नहीं था, जिसमें वे आत्मा जो अब संयुक्त है संयुक्त ही नहीं थे। अर्थात् सदा से ही संयुक्त थें आत्मा का वास्तविक स्वरूप एक ही है, चाहे वह पुद्गल से मिला हुआ हो, चाहे शुद्ध हो। परन्तु आत्मा जड़ वस्तु से सूक्ष्म भौतिक शक्तियों के रूप में मिला हुआ है। इसलिए इनसे आत्मा में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं और ये विकारी कषायभाव भले और बुरे कृत्रिम कर्मों के निमित्तकारण बनकर एक प्रकार के हेतु या साधन हैं जिनके द्वारा इसी प्रकार के नये पदार्थ या कर्मों के परमाणु आत्मा में आकर मिल जाते हैं। यह जड़ वस्तु जो आत्मा में आकर मिल जाती है, एक प्रकार की संचित या एकत्रित शक्ति बन जाती है; जो किसी न किसी समय कर्मोयुक्त या उदय के सम्मुख होकर आत्मा में किसी प्रकार का सुख या दुःख उत्पन्न करेगी। इस प्रकार अपनी सारी शक्ति व्यय करने के अनन्तर यह जड़ वस्तु (कर्म) आत्मा से अलग हो जाती है, परन्तु जैसा पहले वर्णन किया गया है, जब तक इसका उदय रहता है, —यह एक साधन है, जिसके द्वारा इसी प्रकार की नई वस्तुयें (कर्म) आत्मा में आकर मिलती रहती हैं और निरन्तर ऐसा ही होता रहता है। फिर अन्त में जब आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेता है तो इन विदेशीय या बाह्य शक्तियों (कर्मों) की निर्जरा होती जाती है और उसी प्रकार की और नई शक्तियाँ (कर्म) उत्पन्न नहीं होती। जब एक बार ये बाह्य शक्तियाँ (कर्म) आत्मा से अलग हो जाती है, तब आत्मा शुद्ध हो जाता है और फिर अपवित्र नहीं होता वह अपनी दैवी सम्पत्ति या परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार अब हमने देख लिया है कि परमात्मा में कर्ता और शास्ता का गुण आरोपण करने से उसके इतर वास्तविक या नैसर्गिक गुणों में हानि आये बिना नहीं रही। इसके सिवाय और भी कुछ बातें विचार योग्य हैं।

इस संसार का एक कर्ता और एक शास्ता अवश्य होना चाहिए इस विश्वास के समर्थन में एक बड़ा हेतु यह दिया जाता है कि देखो सृष्टि की रचना में रचनात्मक क्रम, कौशल और व्यवस्था पाई जाती है उसमें सौंदर्य या चारुता भी विद्यमान है और इन दोनों बातों से यह पाया जाता है कि इस जगत् का निर्माता कोई बुद्धिमान पुरुष है अर्थात् ऐसी सुन्दर और यथाक्रम सृष्टि की रचना के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। प्रथम तो यह कहना ठीक नहीं है कि संसार में केवल सौंदर्य और क्रम ही दीख पड़ते हैं, उसमें अक्रम और कुरूपतायें भी हैं। यदि यह कहा जाये कि परमात्मा किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
लाभदायक या हितकारी उद्देश्य से ही आँधियाँ, भूकम्प और रोगों को भेजता है, तो फिर यह स्पष्ट है कि इस बात के मानने से दयालुता या सर्वशक्तिमत्ता के गुण में हानि आती है। क्योंकि यदि परमात्मा दयालु और सर्वशक्तिमान होता, तो इस प्रकार की पीड़ायें और क्लेश होने ही न देता।

पुन: यह कहना एक बड़े साहस का कार्य है कि सारे जगत् के विस्तार या प्रपंच का कारण जिसमें भौतिक वस्तुयें कुर्सी और मेज़ भी शामिल है, केवल ज्ञान ही है और कुछ नहीं। एक ऐसा कार्य जिसमें ज्ञान और जड़ता (अज्ञानता) दोनों मिली हुई हों, उसकी उत्पत्ति निरे ज्ञान से ही होनी नहीं कही जा सकती। इसके सिवाय क्रम और व्यवस्था भी निरे ज्ञान से ही उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि अचेतन या जड़ कुर्सी मेज़ की अपेक्षा ज्ञानी जीव का एक क्रम से न चलना अधिक सम्भव है। अथवा जड़ वस्तुयें तो अपने स्थिर स्वभाव के अनुसार निरन्तर एक विशेष क्रम से चली चलेंगी, जब तक कि कोई बाह्य कारण उनका क्रम न बदल दे।

जैनधर्म के अनुसार यह जगत् चेतन और अचेतन दोनों कारणों द्वारा उत्पन्न हुआ है। चेतन कारण एक ही प्रकार का है और अचेतन कारण पाँच प्रकार के हैं। ये छहों सत्तायें या विद्यमान वस्तुयें मिलकर, अर्थात् ये छह वस्तुयें (षट् द्रव्य) इनकी अनेक पर्यायें और इनके गुण और स्वभाव जगत् के कर्ता हैं। चेतन का स्वभाव जानना है। पाँच अज्ञ या जड़-पुद्गल, आकाश, काल और दो वस्तुयें और हैं, जिनसे ठहरने वाली वस्तु ठहरती हैं और चलने वाली वस्तुयें चलती हैं।

जैनधर्म यह नहीं मानता कि इन छह द्रव्यों से किसी विशेष काल में जगत् की उत्पत्ति हुई थी। ये द्रव्य कारण विद्यमान हैं, सदा से विद्यमान रहे हैं और सदा विद्यमान रहेंगे। इन द्रव्यों की परिवर्तनशील दशायें या पर्यायों और परस्पर समाघात ही के कारण सृष्टि का वर्तमान रूप है। किसी घटना में सदा दो कारण होते हैं— एक उपादान कारण और दूसरा सहकारी या निमित्त कारण। यथा "आग" निमित्त कारण है, जिससे जल उबलने लगता है और जल उबलने की घटना का उपादान कारण है।

ऊपर लिखे हुए छह द्रव्य या सत्ताओं (जीव या आत्मा, आकाश, काल, पुद्गल और दो जिन्हें धर्म और अधर्म कहते हैं) में प्रत्येक द्रव्य में उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। प्रत्येक का व्यापार औरों पर, औरों का व्यापार उस पर होता है। प्रत्येक में उत्पाद (उत्पन्न होने) व्यय (नाश होने) और ध्रौव्य (ध्रुव या स्थिर रहने की) शक्ति है। इस शक्ति को "सत्ता" कहते हैं। यह सत्ता कोई भिन्न अस्तित्व वाला द्रव्य नहीं है, जो इन छह द्रव्यों से बाहर हो। यह शक्ति इन्हीं छह द्रव्यों में विद्यमान या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपस्थित है और इनसे अवियोज्य है अर्थात् इनसे इस शक्ति को भिन्न नहीं किया जा सकता। इस जगत् से भिन्न कोई ऐसा एक व्यक्ति नहीं है, जो जगत् की रचयिता (कर्त्ता) और शास्ता हो; किन्तु यह छह द्रव्यों में से प्रत्येक के गुण हैं, कोई चेतन या अचेतन सत्ता या पुरुष नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वस्तुओं को उत्पन्न और नाश करने वाली शक्ति ऊपर लिखे हुए छह द्रव्यों से बाहर और इस जगत् से भिन्न नहीं हैं, यह शक्ति वस्तुओं के भीतर ही अनुगत या उपस्थित है और दोनों में अर्थात् चेतन और अचेतन पदार्थों में पायी जाती है। जैनधर्म में इस शक्ति को 'गॉड' या 'परमात्मा' नहीं कहते। यह जैन सिद्धान्त है और सर्वथा युक्तिसिद्ध है।

एक बात यह भी विचारने योग्य है कि क्या कर्ता में श्रद्धा रखने से मनुष्य को धर्मशील बनने और मोक्ष प्राप्त करने में सहायता मिलती है? वास्तव में कर्त्ता या स्रष्टा की पूजा करने से यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य धर्मशील बन जाये तथा मुक्ति या मोक्ष प्राप्त कर ले जो इस जीवन की पराकाष्ठा या इस जीवन का परम उद्देश्य है। धर्मशील बनने या धार्मिक चारित्र प्राप्त करने के ये पाँच मूल सिद्धान्त हैं जो कि इतर धर्मों को भी मान्य हैं :—

1. अहिंसा अर्थात् किसी प्राणी को न मारना, न दुःख देना, या आप जीते रहना और इतर जीवों को भी जीता रहने देना।
2. झूठ न बोलना अर्थात् सत्य भाषण करना या सत्यवादी होना।
3. अस्तेय या चोरी न करना, वरंच अर्थशुचि या ऋजुतापरायण रहना।
4. व्यभिचार न करना, वरंच जितेन्द्रिय रहना और कामवासना को दमन करना।
5. अपरिग्रह अर्थात् सांसारिक विषयों का त्याग कर विरक्त रहना।

ऐसे 'गॉड' में जो इस सृष्टि का कर्ता माना गया है श्रद्धा रखने से लोग यह सोचने लगते हैं कि 'गॉड' ने सारी वस्तुओं को मनुष्य के उपयोग के लिए उत्पन्न किया है और यह सोचकर मनुष्य मांस खाने और मदिरापान करने में निरर्गलता से रुचि करने लगता है। ऐसे मनुष्य ऊपर लिखे हुए पहले चौथे और पाँचवें सिद्धान्त पर प्रायः नहीं चलते और इन तीन सिद्धान्तों का उल्लंघन करने से वह बहुधा शेष दो सिद्धान्त अर्थात् सत्य और अस्तेय का भी उल्लंघन करते हैं। पुनः बहुत से धर्मों में यह माना है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए कषायों और कामनाओं का दमन करना और संसार से सम्बन्ध दूर करना अर्थात् विरक्त या निर्मोही होना आवश्यक है और जो लोग 'गॉड' को स्रष्टा मानते हैं, वे इस प्रकार वाद-विवाद करते हैं कि जब 'गॉड' ने मनुष्य को ये कषाय या कामनायें दी हैं, तो मनुष्य को इनके दमन करने का क्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्न करना चाहिए? और जब 'गॉड' ने ही मनुष्यों को संसार में भेजा है, तो फिर मनुष्य को संसार से क्यों सम्बन्ध तोड़ना चाहिए या विरक्ति और निर्मोही जीवन क्यों व्यतीत करना चाहिए? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'गॉड' को कर्ता मानकर उसकी पूजा करने से यह आवश्यक नहीं कि धार्मिक जीवन या मोक्ष प्राप्त हो। इस प्रकार यह एक और युक्ति है जिसके कारण जैनधर्मानुयायी 'गॉड' में कर्ता होने का गुण नहीं मानते, वरंच 'गॉड' को एक शुद्ध और सम्पूर्ण आत्मा, सर्वज्ञ, आनन्दमय, सर्वशक्तिमान और शाश्वत (अनादि और अनन्त) मानते हैं। वह ऐसा आत्मा है जो इतर वस्तुओं या प्राणियों को न तो उत्पन्न करता है और उन्हें उनके कर्मों का बुरा या भला फल देता है।

कर्तावादी कभी-कभी एक और हेतु देते हैं। वह हेतु दण्ड और पारितोषिक के विषय में है। वे कहते हैं कि इस संसार में जहाँ न्यायाधीया या मजिस्ट्रेट नहीं है, वहाँ अपराधियों और पापाचारियों को दण्ड नहीं मिलता। इसी प्रकार जब तक इस जगत् का कोई शास्ता या नियन्ता न हो, तो आत्मा को उसके भले और बुरे कर्मों का शरीर छोड़ने के पीछे दण्ड नहीं मिल सकता। इसके उत्तार में पहले तो यह स्मरण रखना चाहिए कि अपराधियों को सदा न्यायाधीश दण्ड नहीं देता, वरंच किसी और प्रकार से भी उन्हें दण्ड मिल जाता है। वे किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण मर जाते हैं, यथा सेंध लगाते समय खिड़की से गिर कर या रोगग्रस्त होकर इत्यादि। दूसरे यह भी याद रखना चाहिए कि न्यायाधीश कभी-कभी निरपराधी मनुष्यों को कारगार में भेज देते हैं और जो सचमुच अपराधी है वह छूट जाता है। इसलिए यह नहीं कह सक्ते कि न्यायाधीश और मजिस्ट्रेट ही प्रत्येक को पारितोषिक और दण्ड देने वाले हैं, इसके अतिरिक्त किसी और कारण का होना भी आवश्यक है। जैनधर्म के अनुसार इस पारितोषिक और दण्ड देने का कारण कर्म है। कर्म में यह शक्ति है कि अपने उचित समय में कर्म करने वाले पुरुष या प्राणी के शरीर में एक कार्य उत्पन्न करे और ये सारी बातें जिन्हें दुर्घटना और रोग कहते हैं, न्यायकारियों के व्यापार व्यवहार आदि केवल निमित्तकारण हैं जिनके द्वारा कार्य उत्पन्न होता या किया जाता है। इसलिए परमात्मा के यत्न करने की कोई आवश्यक्ता नहीं है। क्योंकि पारितोषिक या दण्ड कार्य की आकृति में कारण कार्यभाव से आप ही आप मिलते रहते हैं। वह कारण जैसा कि ऊपर बताया गया है कर्म है। कर्म एक सर्वथा सत्य वस्तु है, परन्तु वह जड़ वस्तु है। वह एक सूक्ष्म पुद्गल है, जिसे शरीर कई बाह्य विकारों के हेतु से अपनी ओर खेंच लेता है। बाह्य विकार काम, क्रोध, माया, लोभ, मोह, अहंकार और मिथ्यात्वरूप हैं, जो एक प्रकार के अन्य कर्म हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर यदि कोई यह पूछे कि 'गॉड' हमारा कर्ता नहीं है, यदि वह हमें अच्छे और बुरे कर्मों का फल नहीं देता, यदि वह मानवजाति के लिए कोई लाभदायक कार्य नहीं करता और न मनुष्य के व्यापारों में व्यापार करता है (अर्थात् न मनुष्य के कामों में दखल देता है), तो फिर ऐसे देव या परमात्मा के पूजन से क्या लाभ हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि ऐसे सच्चिदानन्द देव के पूजन करने से जैसे कोई मनुष्य पराक्रम शूरवीरों की पूजा करता है और उनके गुणों पर ध्यान देने से वे ही गुण हम में आ जाते है या यह कहो कि उन्हीं गुणों का हममें प्रकट होना सम्भव हो जाता है, यदि हम उसका शुद्ध हृदय और सच्चे भाव से मनन करें। यह एक नियम है कि जैसी वस्तुओं का मनुष्य विचार करता है, उसके विचार वैसे ही हो जाते हैं या उन्हीं वस्तुओं का सा रूप ग्रहण कर लेते हैं। परमात्मा के गुणों पर विचार करने से मनुष्य की दशा सुधर जाती है। उसकी आध्यात्मिक प्रकृति उन्नति करने लगती है और अन्त में वह उस पदवी को पहुँच जाता है, जहाँ वह यह यथार्थतया समझने लगता है कि परमात्मा के गुण उसके गुण भी हैं। जो गुण मनुष्य के भीतर छुपे हुऐ हैं। परन्तु सांसारिक राग और द्वेष से ये दैवी गुण मनुष्य में अव्यक्त हैं अर्थात् इन गुणों पर राग और द्वेष का आवरण (परदा) पड़ा हुआ है। इससे सिद्ध है कि यद्यपि बाह्य देव या परमात्मा किसी मनुष्य को कोई वस्तु नहीं देता और न किसी से कुछ लेता है; तथापि परमात्मा की पूजा एक निमित्त है, जिससे मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति उत्पन्न हो सक्ती है और इसलिए इस उद्देश्य से परमात्मा का पूजन अतीव लाभदायक हैं।

एक और प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि यदि 'गॉड' जगत् का कर्ता और शास्ता नहीं है और न वह जगत् के कामों में दखल देता है, तो उसे सर्वशक्तिमान कैसे कह सक्ते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में दो बातें विचारने योग्य हैं—प्रथम यह कि जिस राजा ने अपने शत्रुओं को लड़ाई में जीत लिया है और उसमें इतनी सामर्थ्य है कि फिर शत्रु उसे सता नहीं सकते, उस राजा को शक्तिमान कहते हैं। मनुष्य के लिए उसके कषायों या विषयों से बढ़कर और कोई प्रबल शत्रु नहीं है। जिसने अपने कषायों या इन्द्रियों को सर्वथा वश में कर लिया कि फिर वे कषाया या इन्द्रियाँ उसे दुख न दे सकें, तो वह मनुष्य अतीव शक्तिमान है और उसे सर्वशक्तिमान कह सकते हैं। दूसरी बात विचारने योग्य यह है कि वस्तुतः शक्ति क्या है? संच पूछो तो किसी वस्तु का स्वभाव ही इसकी शक्ति है। आत्मा का अति आवश्यक स्वभाव जानना और अनन्त ज्ञान है और यही उसकी शक्ति है—और जब ज्ञान शक्ति है तो अनन्त ज्ञान रहने से उसमें अनन्त शक्ति आ जाती है।

इस प्रकार हमने देख लिया है कि यद्यपि जैनधर्म में परमात्मा को जगत् का कर्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और शास्ता नहीं मानते, तथापि जैनधर्म में परमात्मा को मानते हैं और यह भी कहते हैं कि उसकी पूजा करनी योग्य है। यह सिद्ध हो जाता है कि "गॉड" को कर्ता मानने से उसे मूर्ख या दुर्बल मानना पड़ता है। जगत् में प्रबन्ध और क्रम के होने से जैन धर्म के अनुसार जो सर्वोत्तम देव या "गॉड" माना गया है, उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं आता और यह भी सिद्ध हो गया है कि "गॉड" को कर्ता मानना धार्मिक और दैवी जीवन व्यतीत करने के लिए अनावश्यक ही नहीं है, अपितु इस प्रकार की श्रद्धा रखने से अवश्य करके कई प्रकार के नीचभाव या कषायभाव मन में उत्पन्न होते और बढ़ते हैं। यथा मांसभक्षण, सुरापान और काम-भोग इस हेतु से कि कर्ता ने इन पदार्थों को अपने जीवों के उपकार के लिए भेजा या बनाया है। इस प्रकार परमात्मा का लक्षण वर्णन करने में जैन मतानुयायी जगत् के कर्ता और शास्ता के गुण उसमें नहीं मानते।

—मुन्शी लाल एम० ए०

जनवरी सन् 1915 के अंग्रेजी गजट में प्रकाशित हुए श्रीयुत एच० वारन साहब के अंग्रेजी लेख का अनुवाद।

**

With Best Compliments From:-

Freelance Corporation

12 Printing Press Area,
(Behind Punjab Kesari) Wazirpur,
Delhi-110 035 (INDIA)
Tel.: 7104050, 7192321, 7103020
Fax.: (91-11) 7102020

Manufactures of

Exclusive range of Tablemats, Luxury Trays, Shower curtains, Bedsheets, Tablelinen, Kitchen co-ordinates, Memoboards and Office Planners.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुस्तक समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम — **वाग्दीक्षा : स्वरूप एवं महत्त्व**
लेखक — **डॉ० सुदीप जैन**
प्रकाशक — **कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली-67 प्रथम संस्करण, 1995।**
पृष्ठ संख्या — **48** *मूल्य* : **2.50 रूपए**

यह रचना संक्षिप्त होते हुए भी सूक्ष्म शोधदृष्टि से समन्वित तथा वर्तमान सन्दर्भों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। इसका व्यापक एवं दूरगामी महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि प्रेस में छपकर तैयार होते ही इसकी 1100 प्रतियाँ हाथों हाथ बिक गयीं और अत्यधिक माँग होने से इसको पुनमुद्रणार्थ दिया जा रहा है। जैनश्रमण की दीक्षाविधि में कोई अंग 'वाग्दीक्षा' या 'मुखशुद्धि' का भी है — यह तथ्य आज विस्मृत हो चुका था। इसकी प्रामाणिक एवं स्पष्ट जानकारी देने के लिए लेखक एवं प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं। इस कृति के कतिपय विचारणीय बिन्दु निम्नानुसार हैं—

साधु का स्वरूप— **'यि व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददादि दीक्षादिकञ्च शिष्याणाम्।**
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेया:।।"

अर्थ—जो न तो व्याख्यान देते हैं, न ही शास्त्ररचना करते हैं और न ही शिष्यों को दीक्षा आदि देते हैं; ऐसे कर्मों के विनाश में समर्थ ध्यानलीन पुरुषों को 'साधु' जानना चाहिए। **"सर्वद्वन्द्व विनिर्मुक्तो व्याख्यानादि च वर्जयेत्।**
विरक्तो मौनवान् ध्यानी 'साधु'रित्याभिधीयते।।"

अर्थ—जो समस्त प्रकार के द्वन्द्व से विनिर्मुक्त है, व्याख्यानादि से दूर रहता है—ऐसे मौनवान् ध्यानी भव्यात्मा को 'साधु' कहा जाता है।

वाग्दीक्षा-विधि—"त्रयोदशसु पंचसु त्रिषु वा कच्चोलिकासु लवंग-एला-पूगीफलादिकं निक्षिप्य ता: कच्चोलिका गुरोरग्रे स्थापयेत्। मुखशुद्धिकरण-पाठक्रियायामित्याद्युच्चार्य सिद्ध-योगी-आचार्य-शांति-समाधि भक्तिर्विधाय, तत: पश्चान्मुखशुद्धि: गृह्णीयात्।"

वाग्दीक्षा की आवश्यकता— **"नूतनस्याग्रशिष्यस्य क्षमाध्ययनशालिन:।**
मुखशुद्ध्यादिकं नैव यावन्न गुरुणोच्यते।।"

अर्थ—नवीन दीक्षाप्राप्त अग्रणी शिष्य, जो क्षमाशील एवं अध्ययनशील हो;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसकी जब तक गुरु के द्वारा मुखशुद्धि (वाग्दीक्षा) नहीं कर दी जाती है; तब तक उसे बोलना (धर्मोपदेश देना) नहीं चाहिए। क्योंकि "दीक्षाविद् मानते हैं कि एक पुरुष को दीक्षा देने का अर्थ किसी एक व्यक्ति को नहीं; वरन् पूरे समाज को, पूरे राष्ट्र को दीक्षित करने जैसा है।"—यह कृति चतुर्विध संघ में प्रभूत आदरणीय होगी, ऐसा मुझे विश्वास है। —पं० जयकुमार उपाध्ये

(2)

पुस्तक का नाम — **स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशति:**
मूलकर्त्ता — **आचार्य भट्ट अकलंकदेव**
टीकाकर्त्ता — **महासेन पंडितदेव (कन्नड़ टीका), केशववर्य्य (संस्कृत टीका)**
अन्वेषक-संपादक-अनुवादक-विशेषार्थ — **डॉ० सुदीप जैन**
प्रकाशक — **श्री अखिल भारतीय जैन युवा फैडेरेशन, अलवर (राज०)**
प्रथम संस्करण-95, 2200 प्रतियाँ
पृष्ठ संख्या — **160** *मूल्य :* **15.00 रूपए**

महान् तार्किक एवं दार्शनिक विद्वान् महामनीषी भट्ट अकलंकदेव की यह रचना मूलरूप में कति संग्रहयोथियों में प्रकाशित तो थी, किन्तु इसकी टीकायें उनमें नहीं थीं तथा मूलग्रन्थ भी पूर्ण एवं शुद्ध प्रकाशित नहीं था —यह जानकारी इस कृति के अवलोकन से मिलती है। मात्र छब्बीस पद्यों की लघुकाय रचना पर तीन-तीन व्याख्यात्मक टीकाओं की उपलब्धि, उसका विस्तृत एवं प्रमाणसमन्वित विशेषार्थ तथा विशद प्रस्तावना-सम्पादकीय आदि का अवलोकन कर इस संक्षिप्त ग्रन्थ के वृहद्रूप के दर्शन हुए।

समयसार का संक्षिप्त संस्करण जैसी प्रतीत होने वाली इस रचना के अन्वेषण, सम्पादन अनुवाद, प्रस्तावनालेखन एवं विशेषार्थ-निर्माण में गवेषी विद्वान् डॉ० सुदीप जैन ने जो प्रभूत श्रम किया है; वह स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। वैज्ञानिक सम्पादन-पद्धति का जैसा सुन्दर एवं संतुलित अनुपालन प्रस्तुत प्रकाशन में हुआ है, वह अपने आप में आदर्श है। कन्नड़ ताड़पत्रों में ग्रन्थ एवं उसकी टीकायें खोज निकालने की प्रवृत्ति आज प्राय: दृष्टिगत नहीं होती और इसी कारण हमारे अनेकों शास्त्र धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। मूल हिन्दीभाषी होते हुए भी जैसा प्रामाणिक पाठसम्पादन एवं अनुवाद का कार्य विद्वान् सम्पादक ने किया है–वह प्रशंसनीय है।

आचार्य अकलंकदेव की यह आध्यात्मिक रचना अपने पूर्ण गौरव-गरिमा के साथ प्रकाशित होकर प्रथम बार जिज्ञासुओं के मध्य आयी है। तीनों टीकाओं ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके एक-एक पद को 'गागर में सागर' सिद्ध कर दिया है। तीनों टीकाओं की अपनी मौलिकता एवं महत्ता है। आत्मा के स्वरूप विषयक सैद्धान्तिक विवेचन एवं अध्यात्मदृष्ट्या भावना-प्रेरणापरक विवेचन का वर्गीकरण इन टीकाओं के बिना समझना दुष्कर था।

यह ग्रन्थ आ० अकलंकदेव का ही है— इस विषय में भी पहिले विद्वानों में भ्रम था, किन्तु उसका निर्मूल निवारण इस प्रकाशन में हो गया है और इस तरह भट्ट अकलंकदेव की साहित्य निधि का एक और रत्न हमें मिल गया है।

इस महनीय कार्य के लिए सम्पादक एवं प्रकाशक दोनों साधुवादार्ह हैं।

—पं० जयकुमार उपाध्ये

(3)

पुस्तक का नाम — **परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी**
लेखक — **डॉ० के०आर० चन्द्र**
प्रकाशक — **प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद; प्र० सं०1995**
पृष्ठ संख्या — **147** *मूल्य :* रूपए

सूक्ष्म गवेषी एवं सतत चिन्तनशील विद्वान् डॉ० चन्द्र ने बड़े परिश्रम एवं विचारणापूर्वक यह कृति तैयार की है। सभी विषयों के निरूपण में उन्होंने अपनी मनीषा का भरपूर उपयोग किया है। प्राकृत एवं साहित्य के क्षेत्र में लिखने वाले आप विशिष्ट विद्वान् हैं। तथा प्राकृत व्याकरण एवं अर्धमागधी के क्षेत्र में आपकी लेखनी से प्रसूत यह रचना कई विचारणीय तथ्य प्रस्तुत करती है।

प्राकृत भाषा के प्राचीनतम रूपों में 'ण'कार की ही प्रवृत्ति थी, अतएव संस्कृत वैयाकरण आचार्य पाणिनी ने प्रचलित णकार को 'न'कार में बदलने का नियम (णो नः) बनाया। संस्कृत प्रभाव के युग में लिखे गये प्राकृत व्याकरण 'प्राकृत प्रकाश' के कर्त्ता आचार्य वररुचि ने "नो णः सर्वत्र" (प्राकृत प्रकाश, 2/42) कहकर सभी प्राकृत रूपों में 'णकार' को ही मान्यता दी। मात्र परवर्ती अर्धमागधी प्राकृत में ही णकार को विकल्प में नकार को स्वीकृति दी गयी है—"अर्धमागध्यां तु नकार-णकारौ द्वावपि, यथा–"छणं-छणं परिण्णाय लोगसन्नं च सव्वसो'' (आचारांग, 1/2/3/103)। 'नाट्यशास्त्र' के कर्त्ता भरतमुनि ने भी सर्वत्र प्राकृत प्रयोगों में 'न'कार की जगह 'ण'कार को ही उचित माना है—**'सर्वत्र न प्रयोगे भवति नकारोऽपि च णकारः।**—*(17/13)*

इसीप्रकार 'सर्वज्ञ' का 'सव्वण्णू' रूप वैयाकरणों ने सिद्ध किया है।

यह विवेचन उक्त पुस्तक के सन्दर्भ में उल्लेखनीय प्रतीत होने से यहाँ प्रस्तुत किया।

—सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाचार दर्शन

श्रमण संस्कृति के क्षेत्र में डॉ० कमलचन्द सोगाणी सम्मानित

जयुपर 30 नवम्बर, दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० कमलचन्द सोगाणी को जयपुर नगर निगम द्वारा आयोजित जयपुर समारोह-95 में श्रमण संस्कृति के क्षेत्र में उल्लेखनीय लोकसेवा कार्य करने पर दिनाँक 18 नवम्बर, 95 को एक भव्य समारोह में सम्मानित किया गया।

—रतनलाल छाबड़ा

**

अर्हत्वचन पुरस्कार 1994 घोषित

'अर्हत्वचन' (त्रैमासिकी) में सन् 1994 ई० में प्रकाशित समस्त आलेखों का मूल्यांकन करने के बाद निर्णायक मण्डल ने घोषित किया कि इस वर्ष के प्रथम, द्वितीय, तृतीय अर्हत्वचन पुरस्कार क्रमश: डॉ० उदयचन्द्र जैन, उदयपुर; डॉ० सुरेन्द्र आर्य, उज्जैन और पं० कुन्दनलाल जैन, शाहदरा-दिल्ली को दिये जाएंगे। इन महानुभावों को आगामी जैनविद्या संगोष्ठी के अवसर पर क्रमश 3001/-, 2001/- एवं 1001/- की नकद राशि, प्रशस्ति-पत्र, स्मृति-चिह्न, शाल एवं श्रीफल भेंट कर सम्मानित किया जाएगा।

—डॉ० अनुपम जैन

**

श्री देवकुमार सिंह का अमृत-महोत्सव

दि० 29 अक्टूबर '95 को इन्दौर में दिगम्बर जैन समाज के वरिष्ठ नेता श्री देवकुमार जी कासलीवाल जीवन के 75 वसन्त पूर्ण होने के उपलक्ष्य में एक भव्य कार्यक्रम 'अमृत महोत्सव'

आयोजित किया गया। श्री देवकुमार सिंह जी कासलीवाल के व्यक्तित्व में सम्पन्नता, सरलता एवं सौम्यता का अद्भुत समन्वय है। उन्होंने अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्ति का राष्ट्र एवं समाज के हित में उपयोग करके एक आदर्श उपस्थित किया है। आपने अनेक तीर्थों के विकास में भी अपना अमूल्य सहयोग दिया है। श्री कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की स्थापना भी अनेक जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धियों में से एक है।

—कैलाशचन्द्र चौधरी

**

डॉ० अनुपम जैन को प्रथम 'ज्ञानमति पुरस्कार'

प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र में दि० 4 अक्टूबर से 8 अक्टूबर तक जम्बूद्वीप महामहोत्सव का आयोजन किया गया। इस अवसर पर चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ एवं त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आर्यिका ज्ञानमती जी के साहित्य पर एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वद्-संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया; जिसमें शताधिक विद्वानों ने भाग लिया। इसी अवसर पर दि० 8 अक्टूबर को आर्यिका जी के 62वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में 62 विद्वानों का सम्मान किया गया, जिनमें गणित-विशेषज्ञ डॉ० अनुपम जैन को भी एक लाख रूपये, रजत प्रशस्तिपत्र एवं शॉल-श्रीफल भेंट कर सम्मानित किया गया। —जयसेन जैन

**

'सन्मति-तीर्थ' का वार्षिक पारितोषिक वितरण समारोह संपन्न

दि० 6 अगस्त सन् 1995 को पूना में 'सन्मति-तीर्थ' का वार्षिक पारितोषिक वितरण समारोह श्री नवलमल जी फिरोदिया की अध्यक्षता और श्री कमलचन्द जी सोगानी जयपुर, श्री विनयसागर जी उदयपुर एवं डॉ० प्रेमसुमन जी उदयपुर के मुख्य आतिथ्य में सानन्द सम्पन्न हुआ। इसमें जैनदर्शन के छात्रों को लगभग बीस हजार रूपये के पारितोषिक वितरित किये गये। **

शिखरजी पर अपने अधिकारों की प्राप्ति का संकल्प

भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण-दिवस मोक्षसप्तमी के अवसर पर सम्मेदशिखर तीर्थ पर और देश के कोने-कोने में मंदिरों में सामूहिकरूप से निर्वाणलड्डू चढ़ाया गया और समस्त दिगम्बर समाज द्वारा यह संकल्प दोहराया गया कि 'सम्मेदशिखर हमारा था, हमारा है और हमारा ही रहेगा।' इसी उपलक्ष्य में दि० 12 नवम्बर को उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री मोतीलाल वोरा ने 'सम्मेदशिखर रथ' का प्रवर्तन भी किया। —रमेशकुमार जैन

**

'जयोदय महाकाव्य' पर राष्ट्रिय विद्वत्-संगोष्ठी

मदनगंज, किशनगढ़ (राजस्थानों) में दि० 29 सितम्बर से 3 अक्टूबर '95 तक आचार्यश्री ज्ञानसागर जी द्वारा रचित 'जयोदय महाकाव्य' पर राष्ट्रिय विद्वत् संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें अनेकानेक विद्वानों ने जयोदय महाकाव्य के विविध पक्षों पर शोधपूर्ण लेखों का वाचन किया। संगोष्ठी के तेरह सत्रों की अध्यक्षता एवं संयोजन विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया। सम्पूर्ण संगोष्ठी मुनि श्री सुधासागर जी के पावन सान्निध्य में चली। इस अवसर पर "कुन्दकुन्द-वाणी" (मासिक) के आचार्य ज्ञानसागर विशेषांक का भी विमोचन हुआ। —हीराचन्द जैन, अजमेर

**

जैन विज्ञान संगोष्ठी सम्पन्न

दि० 29.9.95 से 1.10.95 तक तीन दिवसीय जैन विज्ञान संगोष्ठी अतिशय क्षेत्र करगुवाँ (झाँसी) में मुनिश्री क्षमासागर जी, ऐलकद्वय श्री उदारसागर जी एवं सम्यक्त्वसागर जी के सान्निध्य में संपन्न हुई। इसमें कुल छह सत्रों में विविध विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर जैनदृष्ट्या पत्रवाचन एवं परिचर्या हुई। इस गोष्ठी में डॉ० भागचन्द 'भागेन्दु', भोपाल; डॉ० सुधांशु कुमार जैन, लखनऊ; डॉ० अनिल कुमार जैन, अहमदाबाद; डॉ० नलिन शास्त्री, बोधगया; डॉ० अशोक जैन ग्वालियर; डॉ० आर० शर्मा, उज्जैन; डॉ० नेमीचन्द्र जैन-संपादक तीर्थंकर, इन्दौर; एवं डॉ० राधारमण जैन, ग्वालियर आदि की सक्रिय उपस्थिति रही। —डॉ० अभयप्रकाश जैन, संयोजक

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रपति जी द्वारा 'देवीदास-विलास" का लोकार्पण

डॉ० श्रीमती विद्यावती जैन आरा (बिहार) द्वारा सम्पादित तथा श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी द्वारा प्रकाशित देवीदास-विलास का दिनांक 28.11.95 को एक भव्य-समारोह में राष्ट्रपति-भवन में लोकार्पण किया गया।

श्रीमती जैन ने बुन्देली-हिन्दी के जैन महाकवि देवीदास की हस्तप्रतियों का सर्वप्रथम सम्पादन कर हिन्दी साहित्य के महाकवियों—कबीर, सूर, मीरा एवं तुलसी आदि के साथ तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन कर रीतिकाल में भी आध्यात्मिक गंगा को प्रवाहित करने वाले देवीदास-साहित्य का विविध दृष्टिकोणों से मूल्यांकन किया है। महामहिम राष्ट्रपति जी ने उक्त ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए सम्पादिका को बधाई दी।

इस भव्य-समारोह में पूर्व सांसद श्री डालचन्द्र जी जैन (सागर), डॉ० राजाराम जैन आरा, पं० जयकुमार उपाध्ये दिल्ली, डॉ० अशोक जैन रूड़की, डॉ० सत्यप्रकाश जैन दिल्ली, डॉ० सुरेश जैन वाराणसी, श्रीमती रश्मि जैन नोएडा (गाजियाबाद) आदि उपस्थित थे। डॉ० राजाराम जैन ने ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय दिया और पं० जयकुमार उपाध्ये ने महामहिम राष्ट्रपति जी के प्रति आभार व्यक्त किया।

—महावीर शास्त्री

**

ज्ञान-ध्यान और तप की स्थली कुंदकुंद भारती में संत-समागम

प्रकृति के शान्त, स्वच्छ और निम्रल वातावरण से आपूरित, ज्ञान, ध्यान और साधना का पावन स्थली कुंदकुंद भारती में दि० 18 एवं 19 दिसम्बर '95 को तत्व-चर्चा, धर्मालाप और संत-समागम का अपूर्व उल्लास रहा जब भगवान राम की निर्वाणभूमि माँगातुँगा के लिए बिहार करते हुए परम

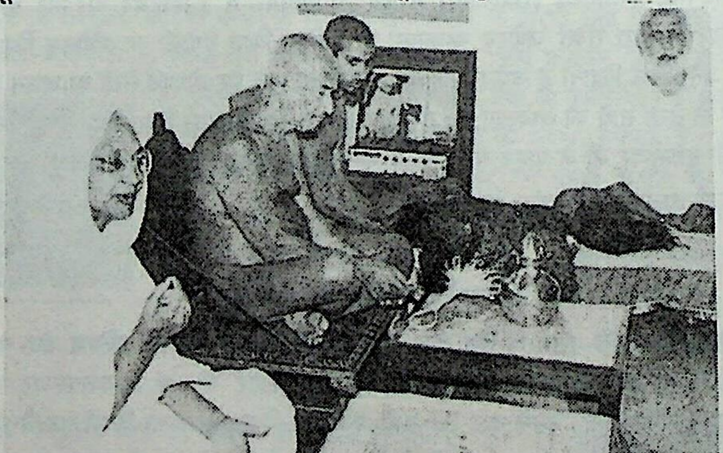

विदुषी गणिनी आर्यिका ज्ञानमती माताजी अपने संघ के साथ पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज का दर्शन करने के लिए कुंदकुंद भारती पधारीं। धर्मप्रभावना और संतों के समागम का यह अवसर तब और भी हर्षोल्लास से भर गया जब गणाधिपति श्री तुलसी के विद्वान् शिष्य मुनिश्री सुमेरमल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जी एवं मुनिश्री किशन लाल जी का भी राजस्थान की ओर विहार करते हुए आज प्रात: आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज के दर्शन के लिए अपने संघसहित कुंदकुंद भारती में मंगल आगमन हुआ।

राष्ट्रसंत आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज ने कहा कि "साधु और श्रावकों का मिलन तो सामान्यत: होता ही रहता है; परन्तु जब एक साधु का दूसरे साधु से मिलन होता है, तो वह दिन मंगलकारी होता है। साधुओं का समागम बड़े पुण्य एवं सुखद संयोग से होता है। "आचार्यश्री ने श्रावकों को आशीर्वाद दिया कि वे अर्हंत भगवान में श्रद्धा से कभी विचलित न हों। उन्होंने शुद्ध आचार-विचार एवं शुद्ध आहार-विहार पर भी बल दिया।

गणिना आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने अपने उद्बोधन में आचार्यश्री की वन्दना करते हुए कहा कि "आचार्यश्री के जीवन में आत्मा का ज्ञानमयी स्वभाव सदा झलकता है, जिसमें चिर आनन्द होता है। उन्हें देखकर कहा जा सकता है कि भगवान कुंदकुंद देव की मुनि-परम्परा इस पंचमकाल में भी मौजूद है। विद्यानन्द जी महाराज परमार्थ और व्यवहार-शास्त्र के पर्वू ज्ञाता हैं। तथा कुंदकुंद की वाणी का प्रसार कर रहे हैं। आर्यिका चन्दनामती माताजी ने कहा कि दिगम्बर मुद्रा बिना बोले ही मोक्ष मार्ग का दिग्दर्शन कराती है।''

डॉ० सुदीप जैन ने इस मंगल मिलन समारोह का संचालन किया। कर्नाटक से पधारे श्री बाहुबली उपाध्याय ने भी अपनी विनयांजलि अर्पित की। श्री हरिचरण वर्मा (आकाशवाणी) ने भजन प्रस्तुत किए। **

द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार डॉ० कमलचन्द सोगानी को

प्रसिद्ध उद्योगपति स्व० सेठ लालचन्द हीराचन्द जैन दोशी की स्मृति में प्रवर्तित शौरसेनी प्राकृत विषयक राष्ट्रिय 'आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार' इस वर्ष दर्शनशास्त्र एवं प्राच्य भारतीय भाषाओं के विद्वान् डॉ० कमलचन्द जी सोगानी को देने का निर्णय किया गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० सोगानी की स्वीकृति भी प्राप्त हो चुकी है।

ज्ञातव्य है कि यह द्वितीय पुरस्कार है और प्रथम पुरस्कार गत वर्ष डॉ० मण्डन मिश्र जी को दिया गया था।

उल्लेखनीय है कि डॉ० कमलचन्द जी सोगानी सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर में दर्शनशास्त्र के आचार्य एवं विभागाध्यक्ष थे और अब लगभग 8 वर्ष से प्राकृत-अपभ्रंश के उत्थान के लिए समर्पित होकर अहर्निश सेवारत हैं। सम्प्रति आप अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के निदेशक के रूप में भारतीय भाषाजगत् को गौरवान्वित कर रहे हैं। **

बधाई

श्री वीरसागर जैन, जोकि अब तक श्री कुन्दकुन्द महाविद्यालय, खतौली (उ०प्र०) में हिन्दी के व्याख्याता पद पर कार्यरत थे; अब उनका चयन श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, (मानित विश्वविद्यालय) नई दिल्ली-16 में जैनदर्शन विभाग में व्याख्याता के रूप में हो गया है और उन्होंने अपना पदभार भी संभाल लिया है। **

शोक-समाचार

☛ दिल्ली में भगवान् महावीर की भव्य प्रतिमा की स्थापना कराने वाले 'अहिंसा स्थल' के निर्माता प्रख्यात समाजसेवी धर्मानुरागी श्रीमान् लाला प्रेमचन्द जी जैन, जैना वॉच कं० का निधन न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल दिल्ली की अपितु सम्पूर्ण जैन समाज़ की अपूरणीय क्षति है। लाला जी का समाज हितकारी कार्यों में सदैव अग्रणी योगदान रहा।

अहिंसा मन्दिर, दरियागंज नई दिल्ली के निर्माता लाला प्रेमचंद जी जैन, शाकाहार वालों का भी दुःखद निधन एक अन्य आघात दिल्ली जैन समाज को दे गया है। लाला प्रेमचन्द जी ने हरिद्वार में जैन मंदिर का निर्माण कराया तथा अन्य अनेकों धार्मिक-सामाजिक कार्यों में आपकी प्रमुख भूमिका रही।

'प्राकृत विद्या' की ओर से उक्त दोनों धर्मानुरागी भव्य आत्माओं को सद्‌गति-प्राप्ति की कामना के साथ श्रद्धासुमन अर्पित हैं।

—प्रबन्ध सम्पादक

अभिमत

श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली से नियमित रूप से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'प्राकृत-विद्या' की सम्पूर्ण सामग्री प्राकृत-साहित्य और भाषा के शोध के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसका प्रत्येक अंक ऐसा होता है, मानों कोई सन्दर्भ-ग्रन्थ ही हो। श्रमण-संस्कृति और प्राकृत भाषा के विकास के लिए 'कुन्दकुन्द भारती द्वारा जो उपक्रम किये जा रहे हैं, वे सब यहाँ एक स्थान पर देखने को मिल जाते हैं। प्रस्तुत अंक में डॉ० सुदीप जैन का लेख "मंगलमूर्ति गणेश: तथ्यों के आलोक में'' इस बात को भली भाँति दिखाता है कि जैन संस्कृति में 'गणेश' का वास्तविक अर्थ और महत्व कितना है। यह लेख जैन शोधार्थियों के ज्ञानाभ्यास हेतु बहुत उत्तम है। इस अंक में उपाध्याय गुप्तिसागर जी की शौरसेनी प्राकृत में अच्छी काव्य-रचना है। डॉ० दरबारीलाल कोठिया की श्रुतपंचमी कथा और पं० बलभद्र जी का श्रुतपंचमी-सम्बन्धी लेख जैन साहित्य के प्रारम्भ के इतिहास को स्पष्ट करता है। आचार्य श्री विद्यानन्द जी के मार्गदर्शन में प्रकाशित होने वाले इस त्रैमासिक से प्राचीन जैन विद्या के अभ्यास को निश्चितरूप से प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

—प्रगति आणि जिनविजय (मराठी साप्ताहिक), मंगलवार, दि० 8/8/95

श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली से शौरसेनी प्राकृत एवं मूल्यों के प्रसार-हेतु प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'प्राकृतविद्या' देश-विदेश के समस्त विद्वानों द्वारा मान्य पत्रिका है। प्रधान संपादक डॉ० राजाराम जैन और संपादक डॉ० सुदीप जैन के मार्गदर्शन से इस पत्रिका को प्राकृतविद्या और शोध के क्षेत्र में पूर्ण मान्यता प्राप्त हुई है। आचार्यश्री विद्यानन्दजी के आशीर्वाद से कुन्दकुन्द भारती को जैन विद्यापीठ का स्वरूप प्राप्त हो गया है। 'प्राकृत भवन' से जैनविद्या-विषयक विविध उपक्रम होते हैं—इस बात के दर्शन इस पत्रिका से होते हैं।

मुखपृष्ठ पर प्रकाशित यूनेस्को के प्रसिद्ध शिल्पकार ज्याकोमेत्ती द्वारा निर्मित निःसंग व्यक्ति का मूर्तिशिल्प 'एकला चलो रे' इस पत्रिका का हृदय है। उसे देखकर ऐसा लगता है मानों अपरिग्रही साधु के ही दर्शन हो गये हैं। इस अंक में आचार्य श्री विद्यानन्द जी का 'जैनदर्शन और ईश्वर' एवं डॉ० राजाराम जैन का 'भारतीय इतिहास के पूरक प्राकृत साक्ष्य' —ये दो शोधपरक लेख विशेष उल्लेखनीय हैं। प्राकृत भाषा और जैन तत्त्वज्ञान के शोध में ये पत्रिका निश्चितरूप से अग्रसर है। संपादकों का मनपूर्वक अभिनन्दन।

—प्रगति आणि जिनविजय (मराठी साप्ताहिकी)
दीपावली विशेषांक, गुरूवार दि० 2/11/95

★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक मननीय पत्र

[कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के 'संस्कृत-पालि व प्राकृत विभाग' के अध्यक्ष डॉ० परमानन्द गुप्त जी को कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान परिसर में जो अनुभूतियाँ हुई, वे इस पत्र में उन्होंने अभिव्यक्त की हैं, विज्ञ पाठकों के अवलोकनार्थ अविकल्परूप से यह पत्र प्रस्तुत है। —*सम्पादक*]

परम श्रद्धेय श्री राजाराम जी !

प्रणामपूर्वक भवत्स्नेहाङ्कितं आरातः प्रेषितं पत्रं प्राप्तमिति निवेद्यते। 'कुन्दकुन्द भारती' इति संस्थानस्य कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालस्य प्राच्यविद्यासंकाये पी-एच०डी० शोधोपाधिनिमित्तं सम्बद्धतां संस्तुवत्प्रतिवेदनं प्रस्तुतमस्माभिः।

मया 'मोहन-जो-दडो : जैन परम्परा और प्रमाण' इति पुस्तकं परिशीलितम्। अधुना तत्र मुखपृष्ठांकित चित्रं महायोगिनम् ऋषभनाथं कायोत्सर्गमुद्रालीनं प्रत्यक्षीकृत्य मह्यं यथा अमन्दमानन्दं जनयति, मृण्मुद्रायां मुद्रिता योगमुद्राम् अभिलिख्य तत्कर्तुर् आनन्दमयी मुद्रा कथम् अभविष्यदिति तथा परिकल्पयितुं शक्नोमि।

भवत्प्रकाशनानां, प्राकृभवनस्य अन्तर्बाह्यशिल्पविधानस्य, तत्कर्मकर्तॄणां रत्नत्रयमण्डित व्यक्तित्वस्य च लावण्यतां स्मारं-स्मारम् आचार्य मुनिश्री विद्यानन्दमहाभागानां तपः स्वाध्यायनिरतं जीवनं कथं चमत्करोतीत्यनुभूयते। मन्येऽहं यद् अप्राकृतस्य प्राकृतभवनस्य प्राकृतिकच्छटा कुन्दकुन्दभारतीं प्रति जनान् जिनान् च बलादाकर्षतीति।

सर्वेभ्यो नमो नमः।

भवदीय

परमानन्द गुप्तः

परमश्रद्धेय श्री राजाराम जी !

सादर प्रणाम,

आरा से प्रेषित आपका स्नेहपूर्ण पत्र प्राप्त हुआ। 'कुन्दकुन्द भारती' संस्थान की कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्यासंकाय में पी-एच०डी० शोध-उपाधि के लिए सम्बद्धता की संस्तुति करते हुए हम लोगों ने प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया है।

मैंने 'मोहन-जो-दड़ो: जैन परम्परा और प्रमाण' —यह पुस्तक पढ़ी। अभी भी उसके मुखपृष्ठ पर मुद्रित महायोगी ऋषभनाथ का कायोत्सर्गमुद्रालीन चित्र देखकर मुझे अपार आनन्द की अनुभूति हो रही है। मिट्टी की मुद्रा (सील) में उत्कीर्ण योगमुद्रा के अवलोकन से उसके निर्माता का आनन्दमयी मुद्रा कैसी रही होगी – यह कल्पना कर सकता हूँ।

आपके प्रकाशनों, प्राकृतभवन के अन्तर्बाह्य शिल्वविधान, उसके कर्मनिष्ठ कार्यकताओं, रत्नत्रयमण्डित व्यक्तित्व की लावण्यता, आचार्य मुनिश्री विद्यानन्द जी महाराज का तपस्या एवं स्वाध्याय में संलग्न जीवन मुझे बारम्बार चमत्कृत कर रहा है—ऐसा अनुभव करता हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अप्राकृत (मानवनिर्मित) प्राकृतभवन का प्राकृतिक सौन्दर्य कुन्दकुन्द भारती के प्रति साधारणजनों एवं विज्ञसाधकों-दोनों को बराबर आकर्षित करती है।

सभी के लिए पुनः पुन प्रणाम।

भवदीय

परमानन्द गुप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाठकों के पत्र

प्रिय डॉ० सुदीप जी !

"प्राकृतविद्या'' के जुलाई-सितम्बर, 1995 अंक की मानार्थ प्रति मिली। धन्यवाद।

"प्राकृतविद्या'' के इस अंक के आवरण-पृष्ठ पर "एकला चलो रे" शीर्षक जिस मूर्त्तिशिल्प को आपने छापा है, वह बहुत ही भाव-व्यंजक है।

कई पठनीय लेखों के साथ संपादकीय टिप्पणी भी विश्लेषणात्मक और विद्वत्तापूर्ण है। श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट के इस महत्वपूर्ण कार्य की अर्थात् "प्राकृतविद्या'' जैसी उच्चस्तरीय पत्रिका के प्रकाशन की सराहना मैं हृदय से करता हूँ।

—डॉ० कुमार विमल

✱✱

प्रिय डॉ० सुदीप जी !

"'प्राकृतविद्या'' का जुलाई-सितम्बर, 1995 का अंक प्राप्त हुआ। सभी लेख विद्वान् लेखकों द्वारा बड़े शोध वं परिश्रमपूर्वक लिखे गये हैं। इन्हें पढ़कर प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होने के साथ-साथ प्रसन्नता भी बहुत हुई। आपके कुशल संपादन में पत्रिका की सामग्री और साज-सज्जा में निरन्तर वृद्धि हो रही है। आचार्य श्री विद्यानन्दजी के आशीर्वाद और आपकी निष्ठा-श्रम से प्राकृतभाषा में शोध-प्रवृत्ति और उसकी लोकप्रियता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। कृपया बधाई स्वीकार करें।

—सतीश कुमार जैन

महासचिव, अहिंसा इन्टरनेशनल, नई दिल्ली

✱✱

डॉ० सुदीप जी !

"प्राकृतविद्या'' की प्रगति के लिए बधाई। लेखन को जो दिशा एवं शक्ति मिली है वह स्तुत्य है।

—डॉ० धर्मचन्द जैन, जोधपुर

संपादक, 'जिनवाणी' एवं 'स्वाध्याय शिक्षा'

✱✱

प्रिय डॉ० सुदीप जैन !

"प्राकृतविद्या'' के जुलाई-सितम्बर 95 के अंक में 'समयसार के पाठ' (पृष्ठ 67 पर) ये 'पासंडिय' के सम्बन्ध में चर्चा देखकर बहुत ही प्रसन्नता हुई। आपने जो बात उठाई है, वह महत्त्वपूर्ण हैं। विद्वानों ने भी इसे समझने में भूल की है। प्राकृत को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ठीक समझने से ही अर्थ ठीक होता है। —डॉ० कमलचन्द सोगानी

निदेशक, अपभ्रंश अकादमी, जयपुर

**

प्रिय श्री सुदीप जी !

"प्राकृतविद्या'' का अंक मिला। यह तो परमआनन्द की बात है कि हम प्राकृत भाषाओं के उत्थान और प्रचार के लिए तन-मन-धन से कार्य करें, अन्य का सहयोग लें, सरकार के द्वार भी खटखटायें, विद्वानों का सहयोग लें। हमारा भी पूर्ण सहयोग है।

—डॉ० के०आर० चन्द्रा

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद

**

प्रिय सुदीप जी !

आपकी सम्पादकीय मनीषा से मण्डित प्राकृतविद्या का जुलाई-सितम्बर '95 का अंक प्राप्त कर परितोष हुआ। प्राकृतभाषा और साहित्य जैसे प्राच्यविद्या से जुड़े विषय को अधुनातम प्रासंगिकता से जोड़ने का आपका सारस्वत प्रयास जैन साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में अवश्य ही नवीन निक्षेप है। इसका निदर्शन इस अंक का आवरण-चित्र है, जिसे मूर्तिशिल्पी ज्याकोमेत्ती ने प्रायः पिकासो-शैली में उकेरा है। आप आवरण चित्र में प्राकृत की शिलालिपियों को भी सम्मिलित करें तथा पुरातात्त्विक मूल्य के उन चित्रों को भी, जिनकी ओर डॉ० राजाराम जी ने अपने शोध-लेख 'भारतीय इतिहास के पूरक प्राकृत साक्ष्य' में इशारा किया है। 'प्राकृतविद्या' के नये सांस्कारिक परिवेश के लिए आप मेरी ओर से शतमुख प्रशंसा स्वीकार करें।

—डॉ० रंजनसूरि देव, पटना

**

प्रिय डॉ० सुदीप जी !

'प्राकृविद्या' का नया अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद। भारतीय भाषाओं में प्राकृत अतिप्राचीन भाषा है। परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज ने लुप्तप्रायः प्राकृतभाषा एवं उसमें निर्मित जैन वाङ्मय की अमर ज्योति को पुनः विश्वव्यापिनी बनाने के उद्देश्य से कुन्दकुन्द भारती एवं शोध संस्थान की स्थापना कर जो महनीय व दूरदर्शितापूर्ण कार्य किया है, वह वस्तुतः अभिनन्दनीय है। 'प्राकृतविद्या' के प्रस्तुत अंक में आचार्यश्री द्वारा लिखित 'जैनदर्शन और ईश्वर' शीर्षक लेख जैनदर्शन के अकर्तावाद को प्रमाणित एवं पुष्ट करता है। प्रोफेसर राजाराम जी द्वारा प्रस्तुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'भारतीय इतिहास के पूरक प्राकृत साक्ष्य' शीर्षक लेख अनेक लुप्त प्राय: तथ्यों व घटनाओं को उजागर करता है। प्राकृतभाषा के सम्बन्ध में डॉ० सुदीप जैन का लेख भी ज्ञानवर्द्धक है। प्रो० उदयचन्द जी की प्राकृत-कविता 'जयदु विज्जाणंद मुणिणो' उनके प्राकृत के वैदुष्य को प्रकट करती है। मुनिश्री कनकोज्ज्वलनंदि जी एवं श्री परिपूर्णानन्द के लेख जैनदर्शन के सम्बन्ध में भ्रमोन्मूलक हैं।

—**नाथूराम डोंगरीय जैन, शास्त्री, न्यायतीर्थ**
संपादक, जैन साहित्य प्रकाशन, इन्दौर

★★

"प्राकृतविद्या'' के नये अंक में **'स्वयंभूच्छन्द'** के पद्यों को पढ़कर बहुत प्रसन्नता हुई। 'प्राकृतविद्या' की यही तो विशेषता है कि वह पाठकों को नई-नई श्रेष्ठ सामग्री से परिचित कराती है। उसी अंक में मुनिश्री कनकोज्ज्वलनन्दि जी का लेख **'प्रतिक्रमण आत्मदर्शन है'** भी संतुलित और अध्ययनपूर्ण है। इसी प्रकार 'समयससार के पाठ' में 'पासंडी' का अर्थ 'मुनि' पढ़कर बड़ा ज्ञानलाभ हुआ। आंपकी इस पत्रिका के संपादकीय भी उच्चस्तरीय होते हैं।

—**वीरसागर जैन**
हिन्दी-व्याख्याता, श्री कुन्दकुन्द महाविद्यालय, खतौली

★★

प्रिय महोदय !

'प्राकृतविद्या' के इस अंक के आवरण पृष्ठ पर 'एकला चलो रे' शीर्षक से जिस मूर्तिशिल्प को आपने छापा है, वह बहुत ही भाव-व्यंजक है। कई पठनीय लेखों के साथ संपादकीय टिप्पणी भी विश्लेषणात्मक और विद्वत्तापूर्ण है। श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट के इस महत्त्वपूर्ण कार्य की अर्थात् 'प्राकृतविद्या' जैसी उच्चस्तरीय पत्रिका के प्रकाशन की मैं हृदय से सराहना करता हूँ।

—**डॉ० कुमार विमल**
अध्यक्ष, बिहार अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड, पटना

★★

प्रिय महोदय !

पूज्य आचार्य विद्यानन्द जी के उदयपुर प्रवास के समय में, उनकी प्रेरणा से जन्म ली हुई **"प्राकृतविद्या"** वहाँ डॉ० प्रेमसुमन जैन के विशेष प्रयत्न से एक निश्चित स्वरूप पाकर, बाद में स्थलान्तरित होकर कुन्दकुन्द भारती संस्थान के तत्त्वावधान में पं० बलभद्र जैन के संपादकत्व पाकर अब अपना सातवाँ संवत्सर पार कर रही है।

यह त्रैमासिक पत्रिका कुन्दकुन्द भारती शोध संस्थान का संशोधनंग (Research Organ) और मुखपत्र के रूप में उत्तम कार्य कर रही है। बाहरी सजावट, उच्च कोटि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के कागज, उत्कृष्ट मुद्रण और समृद्ध विषय वस्तु इन सभी में अपना ही स्थान रखा है। उसमें सिर्फ **"ग्रन्थ समीक्षा विभाग"** आवश्यक है।

भारत के ख्यात विद्वानों से लिखित शोध लेख, आलोचनात्मक निबन्ध, काव्य, समाचार-दर्शनादि तथा जैन धर्म, उसके तत्त्वज्ञान, संस्कृति, प्राकृत साहित्य, भाषा आदि पर नया प्रकाश डाल रही है। **"प्राकृतविद्या"** में सबसे अधिक आकर्षक बात यह है कि, यह पत्रिका शौरसेनी भाषा और साहित्य, इनकी प्राचीनता, माधुर्य, वैभाव्य, महत्व आदि विषयों पर विशेष जानकारी उपलब्ध कर रही है।

यह स्पष्ट है कि इन सब प्रगतिशील साधना के प्रेरक पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी ही हैं। डॉ० राजाराम जैन की इस पत्रिका में (अप्रैल-जून 1995) प्रकाशित **"शौरसेनी प्राकृत और आचार्य विद्यानन्द जी"** के लेख में यह सत्य प्रतिबिंबित है।

इस संदर्भ में मेरा एक विनम्र सुझाव है 'षट्खण्डागम' ग्रन्थों में बड़ी मात्रा में शौरसेनी भाग है और उसमें जैनधर्म, तत्त्वज्ञान, इतिहासादि विषयक विपुल सामग्री है। इसलिए इनका गहरा अध्ययन होना चाहिए। यह अध्ययन एक विद्वान् व्यक्ति से नहीं हो सकता। इसलिए यदि 'कुन्दकुन्द भारती संशोधन संस्थान' में नवघटित "शौरसेनी प्राकृत विद्वत्संसद" के देखभाल में षट्खण्डागम् पर एक अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन करें, तो विविध विद्वान् इस महत्त्वपूर्ण शौरसेनी अंग के विविध पहलू पर अपने प्रबंध तैयार कर सकेंगे और 'प्राकृतविद्या' उन प्रबन्धों को सार रूप में या पूर्णरूप में प्रकाशित कर सकेंगी। और इन प्रबंधों का अंग्रेजी अनुवाद **"Studies in Satkhandagam"** शिरोनामक ग्रंथ में भी प्रकट हो सकता है। इस प्रकार 'जैनविद्या और शौरसेनी' अध्ययन को बहुमुखी बढ़ावा मिलेगा, दुनिया भर उसका प्रचार होगा।

—डॉ० बी०के० खडबड़ी
बेलगाँव, कर्नाटक

★★

प्राकृत विद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67 से प्रकाशित एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा जे.के. आफसेट प्रिन्टर्स दिल्ली-110006 से मुद्रित व प्रिन्टैक्सल, नई दिल्ली-110067 द्वारा लेज़र टाईपसैटिंग, फोन 6852255

भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments

from

Siddharth Interiors

INTERIOR DESIGNERS & FURNISHERS

25, Panscheel Park, Shopping Complex,
New Delhi - 110017.
Tel.: 6442075, 6460803

**HIGH CLASS INTERIORS
WITH DESIGN PACKAGE
FOR RESIDENCES, OFFICES,
FARM HOUSES, VILLAS ETC.**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभ कामनाओं सहित :

सब मॉडल
हमेशा उपलब्ध !
तुरन्त डिलीवरी

केवल गौतम पर

50% दीजिए
शेष ब्याज फ्री
6 किश्तों में
बिना गारन्टर

bajaj

100% फायनान्स
@ 9.5% p.a. (flat)
(बी ए एफ एल द्वारा)
(रविवार खुला है)

बिक्री कर
केवल 6%
बचाएं रु. 800/- तक

चेतक, चेतक मेटैलिक, सुपर, सुपर FE,
सनी, कावासाकी बजाज मोटर साइकिल

पूरी जानकारी के लिए सम्पर्क करें:

गौतम ऑटो मोटर्स

स तिलक नगर : 4ए/4, नजफगढ़ रोड, पानी की टंकी के पास, फोन : 5455310, 593386
स ओखला फेस-2 : ई-41/6, इण्डस्ट्रियल एरिया, फोन : 633284, 6841156
स आर.के.पुरम : रिंग रोड, भीकाजी कामा प्लेस, फोन : 672197, 673298
स राणा प्रताप बाग : बी-81, जी.टी. करनाल रोड, इण्डस्ट्रियल एरिया, फोन : 7218240, 7113408

बजाज की शान ~ गौतम के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'विजने जनसंकीर्णे, सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।
सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः।।'

—आचार्य शुभचंद्र, ज्ञानार्णव 16/34

अर्थ—भीड़ हो अथवा निर्जन स्थान हो, अच्छी या बुरी कैसी भी स्थिति हो; जो संयमी निसंग पुरुष हैं, वे प्रत्येक परिस्थिति में अप्रभावित रहकर आत्मसाधना में लीन रहते हैं।

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि

BR

भारत रेडिएटर्स लिमिटेड

ऑफिस.
८१. बजाज भवन
नरिमन पॉइट.
मुंबई– ४०००२१
दूरभाष: २०२००८५/२०२१४९७
ग्राम: : स्मूथरन
टैलेक्स : ०११-४६६१

फैक्टरी
विद्यानगरी मार्ग
सांताक्रुज (पूर्व)
मुंबई– ४०० ०९८
फोन: ६१२२९६५/६१२३४५७
ग्राम : प्रैसवर्क

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या साधना जनपद में नहीं हो सकती?
क्या जंगल के एकान्त में ही साधना संभव है?
क्या साधना क्षेत्र भी प्रतिबद्ध है? इसका उत्तर–

थिरकय जोगाणं पुण, मुणीणज्झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

–आचार्य वीरसेन धवला पु० 13/18

अर्थ—जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है तथा जिनका मन निश्चल है, ऐसे मुनिराजों के लिए मनुष्यों से व्याप्त जनपद, ग्राम और शून्य जंगल में कोई अन्तर नहीं है।

❖❖❖

Exporters of Hi-fashion Garments & Accessories

Pawan Kumar Jain
Manish Jain
K-3 Green Park Main Ist Floor,
New Delhi –110 016
Tel.: 91-11-6858973, 6858974
Fax No.: 91-11-6854610

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With best compliments from :

Today

☞ **SHIRTS**

☞ **LADIES SUITS**

☞ **TROUSERS**

☞ **COAT**

P.H. Kumar & Co.

6/18, W.E.A. Ajmal Khan Road,
Karol Bagh, New Delhi-110005
Phone : 5723767 (R) 7120457, 7119183

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With best compliments from :

S.C.J. Plastics Ltd.

F-3/10&11, OKHLA INDUSTRIAL AREA PHASE-I, NEW DELHI-110020
HOUSE OF PLASTIC QUALITY PRODUCTS

- MASTERBATCHES FOR LD, HD, HM, PP, PVC FOR MAJOR APPLICATIONS LIKE FILM, INJECTION & BELOW MOULDING, PP FIBERS, TELECOM CABLES & SHOES.
- SPECIAL MASTERBATCHES FOR PS, HIPS, ABS & OTHER ENGG. PLASTICS.
- PROPERTY MASTERBATCHES INCLUDING ANTIFBRILATION & UV ABSORBANTS.
- SPECIAL CABLE COMPOUNDS-FRLS & HALOGEN FREED FLAME RETARDENT ETC.

✆ : 6815566, 6819400, 6818181 FAX : 91-011-6814455

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी पत्र पत्रिका में
छोटा सा स्थान

साथ ही थोड़ा सा
हमारा योगदान

परिणाम ?
एक भविष्य महान

Sharad Advertising Pvt. Ltd.

96 , Rashid Market, Delhi-110051
Ph: 2212364, 2249547, 2247589 Fax: 2228308

4395 A

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

A NAME TO RECKON WITH
IN RIGID P.V.C. PIPES

IS : 4985

ISI

JAYCO

JAYCO PIPES PVT. LTD.
Works : 58/3, Site IV, Industrial Area, Sahibabad, Ghaziabad
U.P. 201010 Ph. : 8770932-33
Regd. Office : E-11, Krishan Nagar, Delhi-110051
Ph. : 2203831, 2243831. FAX 2226831

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments From :-

♥

♥♥

♥

SURENDRA KUMAR,
SANDEEP KUMAR JAIN

B-499, New Friends Colony
New Delhi-110065
Phones : 6834421, 6843621

— Proprietors —

THE PARAS WOOD PRODUCTS

- Mfrs. Sewing Machine Wood Work, *PARAS Appliances*
- Mfrs. Water Geysers & Room Coolers *Home Appliances*
- Mfrs. A.C.-D.C. F.H.P. Electric Motors.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With best compliments

from

Padma Gems Jewellers

9-A SUNDER NAGAR MARKET,
NEW DELHI-110003, INDIA

TEL. : 4611513, 4611202, 4627513
FAX : 91-11-467462

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रामेऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मानां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः।।

—*आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र 73*

अर्थ—जो अनात्मदर्शी संसारी प्राणी हैं, वे गाँव अथवा जंगल में निवास करने में भेददृष्टि रखते हैं; किन्तु जो आत्मदर्शी साधक हैं, वे पर से विभक्त निजशुद्धात्मतत्त्व में ही निश्चलरूप से निवास करते हैं।

With Best Compliments From :

Manufactures

PAPER & BOARD
COLOURED TRIPLEX FILE BOARD

Magnum Paper (P) Ltd.
18/31, Site No.4. Sahibabad (U.P.) Tel.: 8770421

Delhi Paper Co.
685, Chitla Gate, Chawri Bazar Delhi-6 Tel.: 3264503, 3261179

Res.: 3/4326, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110002
Tel.: 3265375, 3267209

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THE PREMIER 1.38 D

THE ECONOMY OF DIESEL.
THE COMFORT OF 118 NE.

PAL

THE PREMIER AUTOMOBILES LTD.

Accessories shown in the picture are not part of standard equipment.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

You can bet on it!

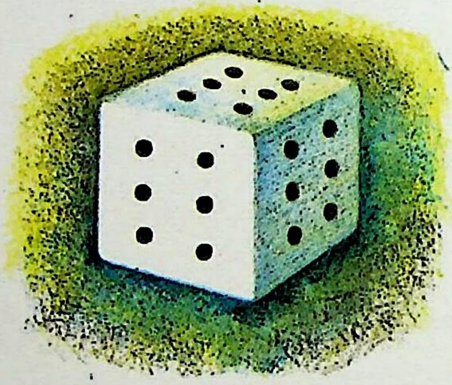

A single encounter is enough.
A treasure trove of shopping.
A delight for the family
with a sweep of
tantalizing Readymades
Gifts, Novelties
tempting Household Linen
Made-ups, Accessories
Handicrafts, Watches
and Jewellery.

amorino™
PERFECT SHOPPING

EIC HOUSE, HAUZ KHAS, AUROBINDO MARG, NEW DELHI-110016. PHONE: 668241/60/61

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi